पुस्तक : भगवान महावीर और उनका चिन्तन

निर्देशक : राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्दऋषि जी

लेखक : डॉ० भागचन्द्र 'भास्कर'

प्रकाशक : श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर)

प्रथम बार : ई० १९७६ जून
वि० सं० २०३३ आषाढ़
वीर निर्वाण संवत् २५०२

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य : बारह रुपये सिर्फ

प्रकाशकीय

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जैनधर्म, दर्शन एवं संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सैकड़ों लेखकों एवं विद्वानों ने साहित्य-कला के माध्यम से भगवान महावीर के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। इस पावन प्रसंग पर हमारी प्रकाशन संस्था ने भी 'तीर्थंकर महावीर' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित कर भगवान महावीर के जीवन एवं उपदेशों से जनता को परिचित कराने का प्रयत्न किया।

प्रकाशन की इसी शृंखला में 'भगवान महावीर और उनका चिन्तन' पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने भगवान महावीर के जीवन प्रसंगों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध सम-सामयिक थे, इसलिए दोनों के जीवन में घटनाओं की विविधता में भी एकसूत्रता है। अनेक प्रसंग बहुत ही समान एवं शैली की दृष्टि से भी एक जैसे हैं, तो कुछ प्रसंग बिल्कुल एक दूसरे के विरोधी भी हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जैन आगमों में तथागत बुद्ध के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं है, और जो हैं वे भी तटस्थ दृष्टि से हैं, जबकि बौद्ध पिटकों में भगवान महावीर के व्यक्तित्व को निम्न दिखाने का प्रयत्न भी हुआ है।

विद्वान् लेखक ने उन प्रसंगों को अंकित कर उनकी तटस्थ समीक्षा की है, और उसमें से हित-मित-सत्य को ग्रहण करने की जिम्मेदारी पाठक पर छोड़ दी है।

सभी जिज्ञासु पाठकों के लिए यह तुलनात्मक अध्ययन ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा और भगवान महावीर के निर्मल वीतराग स्वरूप को समझने में सहायक होगा, ऐसा हमें विश्वास है। कुछ स्थल मतभेद के भी हैं, जिनमें आगे अनुसंधान के लिए बुद्धि का द्वार मुक्त रखने की प्रेरणा है।

इस पुस्तक का निर्देशन राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज ने किया। पाडुलिपि तैयार होने के बाद उसका पुनरावलोकन भी किया। प्रसिद्ध विद्वान मनीषी श्री देवेन्द्रमुनि जी ने भी अवलोकन कर अनेक स्थलों पर संशोधन किया है।

प्रेस सम्बन्धी व्यवस्था के साथ-साथ पुस्तक का पुनः निरीक्षण एवं संशोधन कर श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ने जो स्नेह-सौजन्य प्रदर्शित किया है उसके लिए भी हम आभारी हैं।

आशा है तुलनात्मक अध्ययन के इच्छुक पाठकों के लिए यह पुस्तक कुछ नई सामग्री प्रस्तुत करेगी।

मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

प्राचीन परम्परा और इतिहास

प्राचीन परम्परा और इतिहास

श्रमण संस्कृति : पूर्वपीठिका

जैनधर्म एक मानववादी धर्म है जो साध्य और साधन—दोनों की पवित्रता में विश्वास करता है। उसने जाति और वर्ण के भेदभाव को दूर कर प्राणिमात्र की शक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इसलिए उसका किसी विशेष काल-खण्ड में प्रारम्भ हुआ, ऐसा नहीं माना जा सकता। उसका तो प्रारम्भ तभी से है जब से मानव इस भू पर अवतरित हुआ है। अतः उसे यदि अनादि और अनन्त कहा जाय तो उचित ही होगा।

ऐतिहासिक तथ्य

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस तथ्य को उद्घाटित करने वाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, साहित्य और नृतत्त्वविज्ञान से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी कोई एक समृद्ध संस्कृति थी जिसे तथाकथित आर्यों ने अनार्य संस्कृति कहकर सम्बोधित किया। यही अनार्य संस्कृति श्रमण संस्कृति कही जाती है। वेद और अवेस्ता में वर्णित घटनाओं के आधार पर विद्वानों ने प्रायः यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्य हमारे भारत में बाहर से ही आये थे। यहाँ आकर उन्हें व्रात्य, असुर, दास और दस्यु जैसी उच्च संस्कृति सम्पन्न जातियों से संघर्ष करना पड़ा। वेदों में उनके विशाल नगरों और पणियों (व्यापारियों) का उल्लेख आता है जिनके साथ आर्यों के अनेक युद्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य विशेषतः ऋग्वेद में उल्लिखित आर्य देवोदास और पुरुकुत्स का युद्ध ऐसा ही था जिसमें उन्होंने आर्येतर जातियों को पराजित किया था। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार के अनेक उद्धरण मिलते हैं।

तथाकथित आर्य-अनार्य संस्कृति के सम्मिश्रित रूप से भारतीय संस्कृति का ढाँचा खड़ा हुआ है। नृतत्त्वविज्ञान के अनुसार जिस प्रथम अनार्य जाति का पता चला है, वह है कृष्णांग (Negrito)। कृष्णांगों की सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपों में पाई जाती है। तिब्बत, बर्मा, बलोचिस्तान में भी उनके चिह्न मिलते हैं। कृष्णांग जाति के बाद भारत में पूर्व की ओर से आग्नेय (Austric) जाति आई। उसकी भाषा, धर्म और संस्कृति का रूप हिन्द-चीन और प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में उपलब्ध होता है। यह रूप कुछ तो कृष्णांग जाति में अन्तर्भूत हो गया और कुछ खासी, कोल, मुण्डा, संथाल, मुन्दरी, कुर्कू और शबर जातियों के रूप में शेष रह गया। बाद में तो ये जातियाँ उत्तर-मध्य भारत और दक्षिण-पश्चिम भारत में भी फैल गईं। आर्य और

प्राचीन संस्कृति के बीज जो [illegible] हुए। इनमें [illegible] ऐतिहासिक [illegible] के अनुसार भारतीय संस्कृति [illegible] निर्माण में आर्यों से भी बहुत पूर्व [illegible]।

अनार्य जातियों में द्रविड़ जाति भी अन्यतम है। [illegible] भारत में रहती आयी है। [illegible] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। [illegible] की ओर बढ़ी और बाद में वहीं स्थिर हो गई। [illegible] सम्बद्ध है। इस जाति ने दक्षिण में अपने अनेक [illegible] स्थापित किये। सिन्धु [illegible] जैसे उन्नत सभ्यता के निर्माता और [illegible] द्रविड़ ही थे। जैन संस्कृति [illegible] विद्याधर जाति [illegible] रही होगी।

सिन्धु सभ्यता

सिन्धु घाटी के उत्खनन में जिस संस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे सामने आया है वह निश्चित ही प्राग्वैदिककालीन है। मूर्तिपूजा आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे यह कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी। वह सम्भवतः द्रविड़ अथवा विद्याधर जाति की सभ्यता से सम्बद्ध रही होगी। यह जाति वृषभ (बैल) को पूज्य मानती थी जो ऋषभदेव तीर्थङ्कर का चिह्न है। पुरातत्त्वविज्ञों का ऐसा अभिमत है कि लोहानीपुर एवं हड़प्पा से प्राप्त एक दिगम्बर कायोत्सर्गिक मूर्ति भगवान ऋषभदेव की होनी चाहिए क्योंकि उसकी आकृति और भाव ऋषभदेव की आकृति और ध्यानमुद्रा से शत-प्रतिशत मिलते हैं। रामचन्द्रन और काशीप्रसाद जायसवाल जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उस मूर्ति को किसी जैन तीर्थंकर की ही मूर्ति होने की अधिक सम्भावना व्यक्त की है। इस प्रकार की कुछ मुद्रायें भी वहाँ मिलती हैं जिन पर वृषभ (बैल) का चित्र अंकित है।[1]

अतः यह निःसन्देह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता की प्रतीक नहीं थी प्रत्युत वह वैदिक सभ्यता से पहले की उन्नत द्राविड़ सभ्यता थी।[2] डॉ० हेरास और प्रो० श्री श्रीकंठ शास्त्री जैसे विद्वानों ने इस सभ्यता को द्राविड़ी अर्थात् जैनसभ्यता स्वीकार किया है।[3]

वैदिक वाङ्मय

वैदिक वाङ्मय प्राच्य संस्कृति के पुरातन धरोहर के रूप में सर्वमान्य है। भारत

---

१ चौधरी गुलाबचन्द्र, आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति–मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ५३८-५४२।

२ यह स्थापित हो चुका है कि सिन्धु घाटी सभ्यता पूर्ववैदिक उन्नत और समृद्ध द्राविड़ नगरीय सभ्यता थी।

३ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० २८।

कहा है।[7] केशी मुनि भी व्रात्य ही थे।[8] श्रीमद्भागवत् में इन मुनियों के अग्र
धर्मनेता के रूप में नाभिपुत्र ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है।[9]

वेदोत्तरकालीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ब्राह्म
आदि में श्रमण होकर वैदिक ऋषि ग्रन्थों की आध्यात्मिक साधना की ओर उन्मुख
हुए। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसी का प्रतीक है।[10] वे आत्म-ज्ञान के वास्तविक पुजारी
हो गये। यज्ञ-याग की व्याख्यायें बदलने लगीं। प्राणियों के प्रति सम्मान की भावना
जागरित हुई।[11] अहिंसा की प्रतिष्ठापना प्रारम्भ हुई। आत्म ज्ञान की ओर ऋषियों
का ध्यान केन्द्रित हो गया। यह सब निःसन्देह जैनधर्म के प्रभाव का प्रतिफल कहा जाना
चाहिए।

इस समय तक वैदिक संस्कृति राष्ट्रीय संरक्षण से दूर हट गई थी और उसका
स्थान श्रमण संस्कृति ने ले लिया था। ब्राह्मण वर्ग के स्थान पर क्षत्रिय वर्ग प्रमुख
आ गया था और वह अध्यात्म विद्या का विशेष संरक्षक बन गया था।

भगवान ऋषभदेव

वेदों में उल्लिखित भगवान ऋषभदेव को पौराणिक काल में विशेष मान्यता
मिली। श्रीमद्भागवत् में उन्हें विष्णु का अवतार स्वीकार करके उनके समूचे चरि
का आलेखन किया गया है। इस अवतार का मुख्य उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियों
के धर्म का प्रचार-प्रसार करना था। वृषभ (बैल), जटाजूट आदि साहश्य के कारण
विद्वानों ने ऋषभदेव और शिव को एकाकार बताने का प्रयत्न किया है।[12]

ऋषभदेव तथा उनके उत्तरवर्ती जैन तीर्थंकरों के छुटपुट उल्लेख वैदि
साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[13]

पुरातात्त्विक प्रमाण भी जैनधर्म और उसके तीर्थङ्करों की प्राचीनता को सि
करते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ

तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। उन

---

७ सायण भाष्य, १०, १३६, २
८ ऋग्वेद १०, ११, १३६, १
९ श्रीमद्भागवत् ५, ३, २०
१० ब्रह्मसूत्र
११ अथर्ववेद, १५, २, ३, १, २
१२ राजकुमार जैन : ऋषभदेव और शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यतायें—मुनि हजारीमल
स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६२६।
१३ देखिये, लेखक का ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature, प्रथम अध्याय।

व्यक्तित्व और सिद्धान्तों का दर्शन जैन-बौद्ध साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है। वे 'चाउज्जामधम्म' के प्रवर्तक थे। तथागत बुद्ध ने उनकी परम्परा मे दीक्षित होकर कुछ समय तक आध्यात्मिक साधना की थी। बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी बौद्धधर्म मे दीक्षित होने के पूर्व पार्श्व-परम्परा के अनुयायी थे। कालान्तर मे जैन धर्म की उत्कृष्ट साधना की आराधना करने मे असमर्थ होने से उन्होंने मध्यम मार्ग अपना लिया।

भगवान महावीर

भगवान महावीर को तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैसे महापुरुषों का दर्शन विरासत मे मिला था। उन्होंने स्वय भी तत्कालीन सामाजिक, आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक आवश्यकताओ का समीक्षण किया और यथानुसार जन-समाज के कल्याणार्थ अपना चिंतन प्रस्तुत किया। वे विशुद्ध मानवतावादी और आत्मवादी थे। उनकी दृष्टि व्यक्ति की पवित्र शक्ति और पवित्र साधनो पर केन्द्रित थी। ये साधन उनकी स्वयं की खोज के परिणाम तो थे ही परन्तु एक पुरातन काल से चली आयी ऐतिहासिक परम्परा से भी अनुस्यूत थे। अत: वे जैनधर्म के सस्थापक न होकर प्रचारक, प्रसारक और सुधारक थे।

भगवान महावीर की प्राचीन परम्परा पूर्वोल्लिखित श्रमण सस्कृति से सम्बद्ध है जिसमें निजी आन्तरिक श्रम अथवा पुरुषार्थ से कर्मों का शम (शमन) साध्य होता है। उसमे जातीय अथवा वर्गीय भेदभाव न होकर सभी प्राणी एक सम (समानतावादी) सिद्धान्त पर अवलम्बित रहते हैं और पुनीत साध्य को प्राप्त करते हैं। साध्य की प्राप्ति मे उसके पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सुन्दर समन्वय होना नितात अपेक्षित है। श्रमण सस्कृति की इस साधना पद्धति से प्राचीन मिस्र और सुमेरियन साधना बहुत प्रभावित हुई। उन पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रत्येक सस्कृति और सभ्यता मे प्रगतिशीलता के तत्त्व सनिहित होते हैं। यदि ये तत्त्व उसमे न रहें तो यथाशीघ्र वह काल-कवलित हो जाती है। भारतीय संस्कृति मे यह तत्त्व परिपूर्ण मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। उसकी मणिमाला मे विविधता मे एकता और असमानता मे समानता का विरोधाभास इतने सुन्दर ढग से पिरोया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। उसके प्रतिरोध मे साम्प्रदायिक और धार्मिक विरोधी तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं पर उनकी पृष्ठभूमि मे राजनीतिक और साम्प्रदायिक सकीर्णता का ही विशेष हाथ रहा है। शायद इसीलिए वे कभी स्थायी नहीं रह सके।

समाज, धर्म, सस्कृति और साहित्य पर इस सकीर्णता का प्रभाव अलक्षित नहीं, पर वह भी किसी काल तक सीमित रहा है। श्रमण-ब्राह्मण अथवा ब्राह्मण-श्रमण मे सर्प-नकुलवत् विरोध[१४] तथा सामूहिक साम्प्रदायिक असहिष्णुतामूलक अत्याचारो

---

१४ व्याकरण महाभाष्य २, ४, ९

[illegible]

[illegible] बौद्धिक [illegible] वैदिक [illegible] करने से [illegible]

वैदिक संस्कृति के विस्तार में यज्ञ-यागादि का इतना अधिक महत्व हो गया था कि गाय, अश्व, वृषभ जैसे वैदिक उपयोगी पशु की और दूध, घी, धान्य आदि शरीर पोषक पदार्थ की बहुत बड़ी मात्रा में [illegible] आहुति [illegible] इस कारण महावीर व गौतम आदिक [illegible] धर्मानुयायी राजा-महाराजाओं का भी [illegible] और पोषक क्षत्रिय वर्ग पर ब्राह्मण प्रभाव कम हो गया था और [illegible] और दयापूर्णता का [illegible] ब्राह्मणों के [illegible] श्रमण धर्म की उदारता [illegible] स्वामी था। इसीलिए वेदानुयायी ब्राह्मण मत, क्षत्रिय वर्ग [illegible] अधिक प्रभा- [illegible] था। "नश्यन्ति क्षत्रियकुलम्" जैसे कथन पुराणों में उपलब्ध होना इसी बात का सूचक है।[15]

इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक असमानता व असहिष्णुता के कारण वैदिक संस्कृति का ह्रास ईसवी पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दी प्रारम्भ हुआ और पृष्ठभूमि में पड़ी हुई श्रमण संस्कृति पुनः चमकी।

१५ स्कन्द पुराण, सूत संहिता ४, २६, २९, ३२ आदि।

अक्रियावाद के ८४ भेद हैं। जीवादि सप्त पदार्थ और उनके स्व-पर के भेद से दो भेद हैं। वे सभी भेद पुनः काल, यदृच्छा आदि के भेद से छः प्रकार के हैं। इस प्रकार ७×२×६=८४ हुए।[५] आत्मा के अक्रिय होने पर अक्रियावाद में कृतनाश और अकृताभ्यागमदोष आयेंगे। समस्त वस्तु जगत भी सर्व वस्तु स्वप्न हो जायेगा।[६]

३. अज्ञानवाद

इसके अनुसार श्रमण-ब्राह्मणों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अतः असत्य के अधिक निकट हैं। इसलिए अज्ञान को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। फिर संसार में कोई अतिशय ज्ञानी नहीं जिसे सर्वज्ञ कहा जा सके। ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को एक साथ जान भी नहीं सकता। अज्ञानता होने से चित्त-विशुद्धि अधिक बनी रह सकती है। अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण मानते हैं वह ६७ प्रकार का है-सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद् वक्तव्य, असद् वक्तव्य और सदसद्वक्तव्य। इन सात प्रकारों से जीवादिक नव पदार्थ नहीं जाने जा सकते। अजीवादि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प होते हैं। अतः ९×७=६३ मत हुए। इनमें चार भेद और मिलाये जाते हैं—(i-iii) अर्थ की उत्पत्ति सत्, असत्, सदसत् से होती है, यह कौन जानता है और उससे फल भी क्या है, (iv) वह अवक्तव्य भी होती है, यह कौन जानता है और उसे जानने से फल भी क्या है।[७]

दीघनिकाय के अनुसार अज्ञानवाद का प्रस्थापक सञ्जय वेलट्ठिपुत्त है।[८] वे हर दार्शनिक समस्या के प्रति अज्ञानता और अनिश्चितता व्यक्त करते हैं। टीकाकार सञ्जय का नाम ही भूल गये। उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्तों को जिन आचार्यों से सम्बद्ध माना है वे शत प्रतिशत सही नहीं लगते। उदाहरणार्थ, उन्होंने मक्खलि गोशाल का सम्बन्ध अज्ञानवाद, नियतिवाद और विनयवाद से जोड़ा है जबकि सञ्जय वेलट्ठिपुत्त से अपरिचितता व्यक्त की है। वस्तुतः अज्ञानवाद संजय वेलट्ठिपुत्त का सिद्धान्त है और नियतिवाद मक्खलि गोशाल का। पालि साहित्य में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भगवती सूत्र में भी गोशालक को नियतिवाद का प्रवक्ता माना गया है। सूत्रकृतांग ने अज्ञानवाद को 'पासबद्धा' 'मिच्छादिट्ठी' 'अणारिया' जैसे विशेषणों से सम्बद्ध किया है। भगवान महावीर के धर्म को स्वीकारने वालों में सञ्जय का नाम आता है। संभव है, वे संजय वेलट्ठिपुत्त ही हों।[९]

---

५ सूत्रकृतांग १, १, १२, वृ० पृ० २०८-१; निर्युक्ति ११६-१२१, ६, २७; वृ० पृ० १५२।

६ वही, १, १२; नि० १२१; वृत्ति पृ० २१०-१।

७ वही, १, १२, २ की वृत्ति।

८ अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० २६५।

९ भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध, पृ० २२-२४; विशेष देखिये-भगवान महावीर : एक अनुशीलन, देवेन्द्र मुनि पृ० १०९

क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानवाद के ६७ और विनयवाद के ३२।[1] बारहवें अंग दृष्टिवाद में भी जैनेतर मतों का वर्णन रहा होगा। सम्भव है, इन मतों के मूलतः दो भेद रहे हों—क्रियावाद और अक्रियावाद। तटस्थ-वृत्ति ने इसके बाद अज्ञानवाद को, और उसके उपरान्त विनयवाद को जन्म दिया होगा।

१. क्रियावाद

इस दर्शन के अनुसार जीव का अस्तित्व है और वह अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों के फल का भोक्ता है। इन कर्मों की निर्जरा कर उसके मत में जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कहीं-कहीं क्रिया का अर्थ चारित्र भी किया गया है। तदनुसार व्यक्ति को क्रिया ही फलदायी होती है, ज्ञान नहीं, क्योंकि वह ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होता। अ एकान्त रूप से जीवादि पदार्थों को स्वीकारने वाला मत क्रियावाद है। उसके १८ भेद हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नव पदार्थ स्वतः और परतः के भेद से दो प्रकार के हैं। वे नित्य और अनित्य भी रहते हैं। पुनः ये सभी भेद काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के भेद से ५ प्रकार के हैं। इस प्रकार ९×२×२×५=१८० भेद हुए।

क्रियावाद की दृष्टि से ज्ञानरहित क्रिया से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए 'पढम नाण तओ दया' कहा गया है। 'आहसु विज्जाचरण पमोक्ख' का भी यही सदर्भ है।[3] इसी प्रसंग में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं बौद्धों को क्रियावादी कहा गया है। जैनदर्शन भी क्रियावादी है। उसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, कर्म आदि समस्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् मानना मिथ्या है। उनके सम्मिलित स्वरूप को ही यहाँ स्वीकार किया गया है।[4]

२ अक्रियावाद

क्रियावाद के विपरीत अक्रियावाद में आत्मा, पुण्य, पाप आदि कर्मों का स्थान नहीं। लोकायतिक और बौद्धों को इस दृष्टि से अक्रियावादी कहा जा सकता है। पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त को क्रियावादी कहा गया है जबकि बुद्ध ने स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी—दोनों माना है। क्रियावादी इसलिए कि वे जीवों को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और अक्रियावादी इसलिए कि वे दुष्कर्म को त्यागने का उपदेश देते हैं। सूत्रकृताग में भी बुद्ध को एक स्थान पर क्रियावादी और दूसरे स्थान पर अक्रियावादी कहा गया है। आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने के कारण ही उन्हें यहाँ सम्मिलित किया गया है; अन्यथा वह क्रियावादी ही हैं।

---

२ सूत्रकृताग, निर्युक्ति १, १२, ११६।
३ वही १, १२, ११।
४ वही, १, १२; निर्युक्ति १२१; वृत्ति पृ० २१०-१।

अक्रियावाद के ८४ भेद हैं। जीवादि सप्त पदार्थ और उनके स्व पर के भेद से दो भेद हैं। वे सभी भेद पुनः काल, यदृच्छा आदि के भेद से ६ प्रकार के हैं। इस प्रकार ७×२×६=८४ हुए।[५] आत्मा के अक्रिय होने पर अक्रियावाद में कृतनाश और अकृताभ्यागमदोष आवेंगे। समस्त वस्तु जगत भी सर्व वस्तु स्वरूप हो जायेगा।[६]

३. अज्ञानवाद

इसके अनुसार श्रमण-ब्राह्मणों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अतः असत्य के अधिक निकट हैं। इसलिए अज्ञान को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। फिर संसार में कोई अतिशय ज्ञानी नहीं जिसे सर्वज्ञ कहा जा सके। ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को एक साथ जान भी नहीं सकता। अज्ञानता होने से चित्त-विशुद्धि अधिक बनी रह सकती है। अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण मानते हैं वह ६७ प्रकार का है—सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद्वक्तव्य, असद्वक्तव्य और सदसद्वक्तव्य। इन सात प्रकारों से जीवादिक नव पदार्थ नहीं जाने जा सकते। अजीवादि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प होते हैं। अतः ९×७=६३ मत हुए। इनमें चार भेद और मिलाये जाते हैं—(i-iii) सर्व की उत्पत्ति सत्, असत्, सदसत् से होती है, यह कौन जानता है और उससे फल भी क्या है, (iv) वह अवक्तव्य भी होती है, यह कौन जानता है और उसे जानने से फल भी क्या है।[७]

दीघनिकाय के अनुसार अज्ञानवाद का प्रस्थापक सञ्जय बेलट्ठिपुत्त है।[८] वे हर दार्शनिक समस्या के प्रति अज्ञानता और अनिश्चितता व्यक्त करते हैं। शीलांक सञ्जय का नाम ही भूल गये। उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्तों को जिन आचार्यों से सम्बद्ध माना है वे तत् प्रतितत् सही नहीं लगते। उदाहरणार्थ, उन्होंने मक्खलि गोशाल का सम्बन्ध अज्ञानवाद, नियतिवाद और विनयवाद से जोड़ा है जबकि सञ्जय बेलट्ठिपुत्त से अपरिचितता व्यक्त की है। वस्तुतः अज्ञानवाद संजय बेलट्ठिपुत्त का सिद्धान्त है और नियतिवाद मक्खलि गोशाल का। पालि साहित्य में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भगवती सूत्र में भी गोशालक को नियतिवाद का प्रवक्ता माना गया है। सूत्रकृतांग ने अज्ञानवाद को 'पासबद्धा' 'मिच्छादिट्ठी' 'अणारिया' जैसे विशेषणों से सम्बद्ध किया है। भगवान महावीर के धर्म को स्वीकारने वालों में सञ्जय का नाम आता है। सम्भव है, वे संजय बेलट्ठिपुत्त ही हों।[९]

---

५ सूत्रकृतांग १, १, १२; वृ० पृ० २०८-९, निर्युक्ति ११९-१२१, ६, २७; वृ० पृ० १५२।

६ वही, १, १२; नि० १२१, वृत्ति पृ० २१०-१।

७ वही, १, १२, २ की वृत्ति।

८ अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० २९५।

९ भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध, पृ० २२-२४, विशेष देखिये—भगवान महावीर : एक अनुशीलन, देवेन्द्र मुनि पृ० १०९

७. आत्मषष्ठवादी

सूत्रकृतांग में इसे सांख्य तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध माना है। पंच महाभूतों के बाद आत्मा को छठा पदार्थ मानने के कारण ये आत्मषष्ठवादी कहे गये हैं।[१४]

८. आत्माद्वैतवाद

शीलांक आत्माद्वैतवाद एवं एकात्माद्वैतवाद दोनों शब्दों को समानार्थक मानते हैं। इनके अनुसार जैसे एक ही पृथ्वी समूह विविध रूपों में लक्षित होती है उसी प्रकार एक ही आत्मस्वरूप समस्त जगत के नाना रूपों में देखा जाता है। उनकी दृष्टि में एक ही ज्ञान पिण्ड आत्मा पृथ्वी आदि भूतों के आकार में अनेक प्रकार का देखा जाता है परन्तु इस भेद के कारण आत्मा के मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। चेतन अचेतन रूप समस्त पदार्थ एक ही आत्मा है।[१५] आत्माद्वैतवाद में न प्रमाण है, न प्रमेय, न प्रतिपाद्य है, न प्रतिपादक, न हेतु है, न दृष्टान्त और न उसका आभास। समस्त जगत आत्मा से अभिन्न होने के कारण एक हो जाता है। इस स्थिति में पिता, पुत्र, मित्र आदि का भेद नहीं रहता, गुणादिक नहीं रहते। अतः आत्माद्वैतवाद निर्दोष नहीं।

९ स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार जगत की विचित्रता का मूल कारण स्वभाव है। कण्टक की तीक्ष्णता, मयूर की विचित्रता और मुर्गे का रंग यह सब स्वभाव से ही होता है।[१६] बुद्धचरित[१७] और शास्त्रवार्तासमुच्चय[१८] में भी स्वभाववाद की यही व्याख्या की गई है। शीलांक ने इसे तज्जीवतच्छरीरवाद से सम्बद्ध किया है और यह कारण दिया है कि चूंकि पंच महाभूतों से आत्मा पृथक् नहीं है, इसलिए जगत की विचित्रता में स्वभाववाद कारण रूप माना जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अव्याकृतवाद, कालवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, पुरुषार्थवाद, ईश्वरवाद, दैववाद आदि जैसे अनेक वादों के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें लोकनिर्माण के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में भी इन सभी को कारण माना गया है, परन्तु उनके समन्वित रूप को, न कि पृथक्-पृथक् रूप को।

---

१४ सूत्रकृतांग १, १, १६ वृत्ति पृ. २४।
१५ वही, १, १, ९ वृत्ति पृ. १६।
१६ वही, चूर्णि पृ. ३८, दीपिका पृ ५।
१७ बुद्धचरित ५।
१८ शास्त्रवार्तासमुच्चय १६९-१७२।

णहि कासाविहितो केवलएहिंतो जायए किंचि ।
इह मुग्गरधणाइवि ता सव्वे समुदिया हेउ ॥[१९]

इसके साथ ही जैनदर्शन मे कर्म को भी संसार के इस वैचित्र्य का कारण बनाया गया है। उसको भी सुख-दुःख का कारण माना गया है। कर्म मूर्त है क्योंकि सुखादि से सम्बद्ध होने के कारण ही व्यक्ति तदनुकूल अनुभव करता है। मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का उपघात अथवा उपकार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मदिरा आदि मूर्त वस्तुओं द्वारा विज्ञानादि अमूर्त वस्तुओं का। लोक षड् द्रव्यमय है। द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उसका नूतन पर्यायों मे परिणमन, पूर्व पर्यायों का विनाश तथा मूल अश की स्थिति रहती है। इसमे ईश्वर को परिचालक मानने की आवश्यकता ही नहीं।

१० आरण्यक

आरण्यक अरण्य मे ही रहना अपना धर्म समझते थे। वे कन्द-मूल-फलाहारी, वृक्षमूलवासी, ग्रामन्तकवासी तथा सर्वसावद्यानुष्ठान से अनिवृत्त रहते थे और एकेन्द्रिय जीवों के घात से प्रायः अपना निर्वाह करते थे। तापस आदि ऐसे ही होते थे। वे द्रव्यतः अनेक व्रतों का आचरण करने पर भी भावतः उनसे शून्य रहते थे। इसके पालक प्राय ब्राह्मण रहा करते थे। अतः वे अपने आपको अहन्तव्य मानते थे। उनका मत था—शूद्र व्यापाद्य प्राणायाम जपेत् किञ्चिद् दद्यात्।[२०] पालि साहित्य मे भी आरण्यकों और परिव्राजकों के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

११. अन्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त श्रमण साहित्य मे और भी अनेक प्रकार के सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं। प्रश्न व्याकरण[२१] मे असत्यभाषक के रूप मे सम्प्रदायों का विभाजन इस प्रकार किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पचस्कन्धवादी—बौद्ध
३. मनोजीववादी।
४ वायुजीववादी।
५. अण्डे से जगत की उत्पत्ति मानने वाले।
६ लोक को स्वयभूकृत मानने वाले।
७ ससार को प्रजापति द्वारा निर्मित मानने वाले।

---

१९ सूत्रकृताग २. ५, १५ वृत्ति।
२० सूत्र २, २, २८-२९।
२१ अध्ययन २६ व ३१।

८ सारे संसार को विष्णुमय मानने वाले।
९ आत्मा को एक मानने, वेद नित्य, निष्क्रिय और निर्गुण मानने वाले।
१० जगत् को ईश्वरकृत मानने वाले।
११ स्वभाववादी।
१२. दैववादी।
१३ नियतिवादी।
१४ ईश्वरवादी।

'नायाधम्मकहाओ' के गोतीर्थ नामक पन्द्रहवें अध्याय में एक सूत्र है। विविध मत वालों के प्रवास का उल्लेख है। उन मत वालों के नाम ये हैं—

१ चरक—त्रिदण्डी अथवा कछनीधारी-कौपीनधारी तापस।
२ चीरिक—चीथड़ों से निर्मित वस्त्रधारी।
३ चर्मखण्डिक—चर्मवस्त्र अथवा चर्मोपकरण रखने वाले।
४. भिक्षुक—भिक्षुक अथवा बौद्ध भिक्षुक।
५ पण्डुरंग—शिवभक्त, भस्म लगाने वाले।
६ गौतम—साथ में बैल रखने वाले भिक्षुक।
७ गोव्रती—गोव्रत रखने वाले।
८. गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।
९ धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।
१० अविरुद्ध—विनयवादी।
११. वृद्ध—संन्यास में विश्वास रखने वाले।
१२. श्रावक—धर्मश्रोता।
१३ रक्तपट—रक्त वस्त्रधारी परिव्राजक।[२२]

श्रमण साहित्य में परमतों का उल्लेख उनके नामों से हुआ है—जैसे एगे यमाणा, अन्ययूथिका, पासत्था, दिसाचरा, अन्यतीर्थिका, मिथ्यादृष्टि वाला आदि। इसलिए उनका सही विवरण मिलना कठिन हो जाता है। सूत्रकृतांग के कुशील अध्यय में चूर्णिकार ने कुछ अन्ययूथिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनमें प्रमुख हैं— गौतम, गोव्रतिक, रुद्रदेवता, चीरभद्रक, अग्निहोमवादी तथा जल-शौचवादी। ऋषि भाषित ग्रंथ में कुछ अर्हत् ऋषियों का उल्लेख है। उनमें से कुछ ये हैं—असित अंगिरस, भारद्वाज, महाकश्यप, मंखलिपुत्त, याज्ञवल्क्य, बाहुक, मधुरायण, स यायण, वरिसव कण्ह, अरियायण, गाथापतिपुत्र तरुण, रामपुत्र, हरिगिरि, मा पिंग, ब्राह्मण परिव्राजक, अरुण महासाल, तारायण, सातिपुत्र (बुद्ध), दीपा यम, वरुण, वैश्रमण।

२२ औपपातिक ३८वाँ सूत्र भी देखिये।

औपपातिकसूत्र में गंगातटवासी वानप्रस्थों का उल्लेख मिलता है—

१. होत्तिय—अग्निहोम करने वाले।
२ पोत्तिय—वस्त्रधारी।
३. कोत्तिय—भूशायी।
४. जण्णई—याज्ञिक।
५ सड्ढई—श्रद्धाशील।
६. थालई—सारा सामान लेकर चलने वाले।
७. हुंबउट्ठ—कुण्डी लेकर चलने वाले।
८. दंतुक्खलिय—दाँतों से चबाकर खाने वाले।
९ उम्मज्जक, सम्मज्जक और निमज्जक—स्नान करने वाले।
१० संपक्खाल—शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करने वाले।
११. दक्खिणकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।
१२ उत्तरकूलग—गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।
१३. संखधमक—शंख बजाकर भोजन करने वाले।
१४. कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर आवाज कर भोजन करने वाले।
१५. मियलुद्धय—पशु भक्षण करने वाले।
१६ हत्थितावस—हाथी को मार कर एक वर्ष तक उसे खाने वाले।
१७ उद्दंडग—दण्ड को ऊपर करके चलाने वाले।
१८. दिसापोक्खी—दिशा सिञ्चन करने वाले।
१९. वक्कवासी—वल्कल पहनने वाले।
२०. अंबुवासी—जलवासी।
२१. बिलवासी—बिल में रहने वाले।
२२. वेलवासी—समुद्र के किनारे रहने वाले।
२३. रुक्खमूलिया—वृक्ष के नीचे रहने वाले।
२४. अंबुभक्खी (जलभक्षी), वायुभक्खी और सेवालभक्खी।

इसी सूत्र में प्रव्रजित श्रमण का अलग से उल्लेख किया गया है। संखा (सांख्य), जोई (योगी), कविल (कपिल), भिउच्च (भृगु ऋषि के अनुयायी), हंस (वनवासी, पर भिक्षार्थ ग्रामभ्रमण करने वाले), परमहंस (नदी तटवासी तथा वस्त्रादि छोड़कर प्राण त्याग करने वाले), बहुउदय (गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहने वाले), कुडिव्वय (गृहवासी तथा रागादि त्यागी), कण्हपरिव्वायग (कृष्ण परिव्राजक) उनमें प्रमुख हैं। ब्राह्मण परिव्राजकों में कण्डु, करकण्डु, अंबड, परासर, कण्हदीवायण, देवगुप्त और नारय तथा क्षत्रिय परिव्राजकों में सेलई, ससिहार, णग्गई, भग्गई, विदेह, रायाराय प्रमुख हैं। ये परिव्राजक वेद-वेदांग में निष्णात, स्नानादि में विश्वास करने वाले, सादे ढंग से रहने वाले और अनर्थदण्ड से विरत रहने वाले थे।

…पातिक सूत्र मे ही आजीवक श्रमणो के सात प्रकार बताये गये है–दुघरतरिया (दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले), तिघरतरिया, सत्तघरतरिया, उप्पल बेंटिया (कमल के डंठल लाकर रहने वाले), घरसमुदाणिय (प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले) विज्जुअतरिया (विद्युत्पात के समय भिक्षा न लेने वाले) तथा उट्टियसमण (किसी बड़े मिट्टी के बर्तन मे बैठकर तप करने वाले)। इनके अतिरिक्त अत्तुक्कोसिय, परपरिवाइय तथा भूइकम्मिय श्रमण भी थे। सात निह्नवो का भी यहाँ उल्लेख क[रना] आवश्यक है—बहुरय (प्रवर्तक—जामालि), जीवपएसिय (प्रवर्तक–तिष्यगुप्त) अव्वत्तिय (प्रवर्तक—आषाढ़ाचार्य), सामुच्छेइय (संस्थापक—अश्वमित्र), दोकिरिय (प्रवर्तक—गंगाचार्य), तेरासिया (संस्थापक—रोहगुप्त) तथा अबद्धिय (संस्थापक—गोष्ठा माहिल)। ये मूलतः किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य थे। आगम साहित्य मे श्रमणो के पाँच भेद भी दिये गये है। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक। इनमे से आज निर्ग्रन्थ और शाक्य ही शेष रहे हैं।

इस प्रकार पालि-प्राकृत-संस्कृत साहित्य मे षड्दर्शनो के अतिरिक्त प्राचीनकाल मे विशेषतः भगवान महावीर के काल मे अनेक वादो का विवरण मिलता है। पर उनका मूल सैद्धान्तिक साहित्य उपलब्ध नही होता। सम्भवतः अधिकांश उक्त वादों का कोई विशेष साहित्य था भी नही अन्यथा उनका उल्लेख अवश्य मिलता। इसीलिए प्रतीत होता है कि ये वाद अधिक प्रभावक नही रहे होगे तथा यह भी सम्भव है कि उनका जीवनकाल अधिक नही रहा होगा। (आवश्यकता यह है कि इस विषय पर गम्भीर शोध की जाय और उनके समूचे सिद्धान्त विविध साहित्य से एकत्रित कर भारतीय संस्कृति मे उनके स्थान का निर्णय किया जाय। मानव के लिए उनकी कहाँ तक उपयोगिता है, इसका भी मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है।)

☆

भगवान महावीर : व्यक्तित्व और निरूपण

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भगवान महावीर : व्यक्तित्व और विश्लेषण

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बाद भगवान महावीर छठवीं शताब्दी ई० पू० का एक ऐसा उत्क्रान्तिकारी व्यक्तित्व था जिसने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक तत्त्वों का सूक्ष्म अध्ययन कर सर्वसाधारण व्यक्ति की मूलभूत समस्याओं का मौलिक समाधान प्रस्तुत किया। *जिस समय ईरान मे जरथुस्त्र, फिलिस्तीन मे जिरेमिया* और ईजेकिल, चीन मे कन्फ्यूशियस और लाओत्से, यूनान मे पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात प्रभृति उच्चकोटि के चिन्तक अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे, उसी समय भारत वसुन्धरा में पूर्ण कश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बलि, प्रकुध कात्यायन, सञ्जय वेलट्ठिपुत्र, गौतमबुद्ध और निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र(निगण्ठनातपुत्त) एव अन्य विचारक अपने-अपने ढग से तात्कालिक ज्वलन्त दार्शनिक प्रश्नों का समाधान उपस्थित कर रहे थे।

उक्त भारतीय दार्शनिक प्राय श्रमण सस्कृति की विविध शाखाओ के प्रवर्तक थे। यह पहेली अनबुझी-सी है कि महात्मा बुद्ध ने अपने समसामयिक आचार्य तीर्थंकरो मे केवल इन श्रमण दार्शनिकों का ही सविशेष उल्लेख क्यों किया ? यह अधिक सम्भव है कि उस समय चूँकि वैदिक सस्कृति की लोकप्रियता कम होती चली जा रही थी और कोई विशेष प्रभावक वैदिक दार्शनिक उनके समक्ष था नहीं, इसलिए बुद्ध ने उनके विचार रखना आवश्यक ही नहीं समझा।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति

भगवान महावीर के समय तक वैदिक सस्कृति मे उच्छृङ्खलता, अमानवीयता एव घनघोर अहकार के मद मे आपूर क्रूरता प्रदीप्त थी। यज्ञप्रधान इस सस्कृति के प्राङ्गण मे हुताशन को मूक पशु-पक्षी तथा निरपराध नर-नारी और शिशु समुदाय भी नि सकोच समर्पित कर दिये जाते थे। "यज्ञार्थं पशवः स्वयमेव स्वयम्भुवा" कहकर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" जैसे स्वपरवञ्चक नारे लगाकर याज्ञिक यज्ञादि अनुष्ठानों का औचित्य प्रगट कर रहे थे। उनके इस समर्पण मे श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भौतिक साधनो की अधिकाधिक उपलब्धि का उद्देश्य निहित था। आध्यात्मिक उत्कर्ष की सीमा स्वर्ग ही थी जिसमे शारीरिक और मानसिक तृप्ति की आकाक्षाओ का अबार लगा रहता था। इस यज्ञ-याग विधि का एकमात्र ज्ञाता और कर्ता ब्राह्मण माना जाता था।

उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ भी नहीं मिलता। उनको जो 'निगण्ठनातपुत्त' कहा गया है वह भी साधना में लीन हो जाने पर केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त ही।

जैन साहित्य में आगम और आगमेतर साहित्य उपलब्ध है। आगम साहित्य के आधार पर ही उत्तरकाल में महावीरचरित्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं में लिखे गये।

दोनों परम्पराओं में उपलब्ध अथवा उल्लिखित मुख्य महावीरचरित सम्बन्धी ग्रन्थों को निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

दिगम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ	श्वेताम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ
(क) प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थ	
१. तिलोय पण्णत्ति (यतिवृषभ, लगभग ५वीं शती)	१. आचारांग
	२ सूत्रकृतांग
२. तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार (पुष्पदन्त, शक सं० ८८०)	३ ठाणांग
	४ समवायांग
३. वड्ढमाण चरिउ (जयमित्र हल्ल, १५वीं शती)	५. उपासकदशांग
	६ व्याख्याप्रज्ञप्ति
४. वड्ढमाणकहा (नरसेन, वि० सं० १५१२)	७ कल्पसूत्र
	८ आवश्यक निर्युक्ति
५. सन्मइ-चरिउ (रइधू, वि० सं० १५०० के आसपास)	९ विशेषावश्यक भाष्य
	१० आवश्यक चूर्णि
	११ चउप्पन्न महापुरिसचरिय (शीलांकाचार्य, वि० सं० ९२५)
	१२ पउम चरिय (वसुदेव हिण्डी)
	१३. महावीरचरिय १ गुणचन्द्रसूरि (११६० ई०) २ नेमिचन्द्र (१०२३ ई०) ३ देवभद्रगणि (वि० सं० ११६८)
	१४ कहावलि (भद्रेश्वर, १२वीं शती)
(ख) संस्कृत ग्रन्थ	
१. वागर्थसंग्रह (कवि परमेष्ठी)	१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् (आचार्य हेमचन्द्र)

विशाल नामक राजा द्वारा इसकी स्थापना की गई हो।[८] वैशाली (बिहार) जिले
अन्तर्गत विद्यमान आज का बसाढ़ ग्राम प्राचीन वैशाली बताया जाता है। यह एक
इससे भी प्रमाणित होता है कि बसाढ़ के उत्खनन में अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर
'वैसाली' शब्द उत्कीर्ण मिला है। यहाँ विशाल राजा का गढ़ भी बताया जाता है।

वैशाली महानगर के अन्तर्गत कुण्डग्राम अथवा कुण्डपुर था जिसके दो भाग
थे—क्षत्रिय कुण्डपुर और ब्राह्मण कुण्डपुर। प्राचीन काल में प्रायः वर्णं के आधार
ग्रामों के भाग-उपभाग बना दिये जाते थे। महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्डपुर में हु
चूंकि समूचा नगर वैशाली के नाम से पुकारा जाता था अतः महावीर को जैन ग्र
में वेसालिय (वैशालिक) भी कहा गया है। 'वेसालिय' कहे जाने का कारण यह भ
था कि उनका कुल और प्रवचन आदि विशाल और प्रभावक थे।[९] वैशाली उस समय
मगध का भाग न होकर विदेह का ही भाग था। इसलिए महावीर को वैदेहिद और
महावीर की माता त्रिशला को विदेहदत्ता कहा गया है।

इसी वैशाली के पास कोल्लाग सन्निवेश, कर्मारग्राम, वणिग्ग्राम, आदि अन्य
ग्राम और नगर भी थे जिनका विशेष सम्बन्ध भगवान महावीर के जीवन से रहा है।
जिसे उस समय कर्मारग्राम कहा गया आज वह कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है।
जिसे उस समय कोल्लाग कहते थे उसे आज कोल्हुआ कहा जाता है। यहाँ एक अशो
स्तम्भ भी मिला है। प्राचीन कुण्डपुर आज बसाढ़ के पास बना वासुकुण्ड कहा जा
सकता है।

वैशाली के आसपास एक जथारिया नामक जाति रहती है जो अपने को
महावीर का वंशज बताती है। यह सम्भव भी है क्योंकि जथारिया शब्द नातपुत्त के
'नात' शब्द से आया प्रतीत होता है।

बाल्यावस्था

बालक वर्द्धमान का लालन-पालन राजशाही ठाट-बाठ से हुआ। पंचधात्रियों
की देखरेख में उसका शारीरिक और मानसिक विकास अहर्निश वृद्धिगत होने लगा।
उसकी बालक्रीडायें भी हृदयहारी और सौम्य थी। वह निर्भय और साहसी था।

एक बार बालक वर्द्धमान अपने समवयस्क मित्रों के साथ संकुली (आमली)
खेल खेल रहा था। मित्रों में काकधर, पक्षधर और पक्षाधर नामक राजकुमारों
उल्लेख आता है।[१०] इस खेल में जो बालक सर्वप्रथम वृक्ष पर चढ़ जाता और नीचे

८ वाल्मीकीय रामायण, आदिकाण्ड ४७ ११-१२; भागवत पुराण ९-२-३३
९ त्रिशाला जननी यस्य विशाल कुलमेव वा।
विशाल प्रवचन चास्य तेन वैशालिको जिन ॥
१० वर्द्धमान पुराण—चामुण्डरायकृत (कन्नड़ भाषा), पृ० २९१ मुनि विद्यानन्द।
डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।

उतर आता, वह पराजित बालकों के कन्धों पर बैठकर उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है। उस समय बालक वर्द्धमान खेल खेल रहा था कि अचानक एक विकराल भीमकाय सर्प वृक्ष पर आ गया। सभी बालक तो भयभीत होकर भाग खड़े हुए, पर वर्द्धमान ने उसकी पूँछ पकड़कर उसे बहुत दूर फेंक दिया। इसे 'आमलय खेड' कहा गया है। यह घटना राजा के कानों तक पहुँची। बालक की निर्भयता और वीरता का यह एक विशिष्ट प्रमाण था इसलिए राजा ने वर्द्धमान का अपर नाम 'महावीर' रख दिया। महावीर के अतिरिक्त वर्द्धमान के सन्मति, वीर और अतिवीर नाम भी मिलते हैं। इन नामों के पीछे भी इसी प्रकार की कुछ घटनायें सम्बद्ध हैं। बालक के इन नामों में वर्द्धमान और महावीर नाम अधिक प्रचलित हुए।

उक्त घटना के पीछे संगमदेव की भूमिका बतायी जाती है। उसने महावीर वर्द्धमान को साधना काल में भी अनेक प्रकार से कठोर कष्ट दिये। आमली क्रीडा का वर्णन मथुरा शिल्प में उपलब्ध हुआ है। महावीर की बाल-लीलाओं का और कोई महत्त्वपूर्ण प्राचीन उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया।

शिक्षा-दीक्षा

महावीर ने अपनी मेधावी प्रतिभा के बल पर बहुत शीघ्र ही ज्ञानार्जन कर लिया। जैन परम्परा के अनुसार वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी थे। अतः किसी आचार्य के पास उनकी शिक्षा-दीक्षा मात्र व्यावहारिक थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार संजयन्त और विजयन्त नामक मुनियों ने तो उनके दर्शन करके ही अपनी शंकायें दूर कर लीं। जो भी हो, यह निश्चित था कि महावीर किशोरावस्था में ही अपूर्व प्रतिभा के धनी, विद्वान और चिन्तक हो गये थे। यह आश्चर्य का विषय है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में विद्याशाला में गमन तथा इन्द्र के साथ प्रश्नचर्चा को छोड़कर कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलते।

गार्हस्थिक जीवन

राजकुमार वर्द्धमान गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भोग-वासनाओं से अलिप्त थे। संसार की गहनता और असारता का अनुभव उन्हें हो चुका था। आध्यात्मिक चिन्तनशीलता अहर्निश बढ़ती चली जा रही थी। इसी अवस्था में उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा गया। स्वभावतः वे इसे कैसे स्वीकारते? माता-पिता का स्नेह-आग्रह और भेद-विज्ञान की प्रकर्षता इन दोनों स्थितियों में सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय—यह विकट समस्या महावीर के सामने थी।

इस सन्दर्भ में दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने अन्त में अविवाहित रहने का निर्णय लिया। पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस परिस्थिति में उन्होंने विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फलतः वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय पुत्री यशोदा के साथ शुभ मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण संस्कार हो गया। कालान्तर में वे एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका

[illegible]

११ कल्पसूत्र, १०६ ; महावीर चरिय पृ० १३२, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०२।

महाभिनिष्क्रमण : अन्तर्ज्ञान की खोज में

...मि, (वर्षावास यहाँ के कुलों और खण्डहरों में

...र, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती (वर्षावास)।
...भूमि, कोल्लाग, सिद्धार्थपुर, कूर्मग्राम, आलभिया,
..., मगध, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली (वर्षावास)।
...ग्राम, कौशाम्बी, मेढ़ियाग्राम, सुमंगल, सुच्छेत्ता, पालक,

..., ...ह्मणि, मध्यमपावा, जंभियग्राम।

विशिष्ट घटनाएँ

गोपालक का उपसर्ग

...जब साधक महावीर कुमारग्राम पहुँचे और उसके बाहर ...कर ध्यानस्थ होकर आत्मसाधना करने लगे। साधना में इतने ...थे कि अन्य किसी वस्तु का भी भान। उनके चित्त को प्रभावित नहीं

...एक घटना हुई। गाँव के किसी ग्वाले (गोपालक) ने अपने बैल ...छोड़ दिए और स्वयं कहीं चला गया। वापिस आने पर उसे बैल ...। बैल तो चरते-चरते कुछ दूर निकल गए थे। ग्वाले ने ध्यानस्थ ...तुम्हारे बैल कहाँ हैं?" उत्तर न पाकर वह स्वयं उन्हें खोजने चल ... बैल शाम को वापिस आकर महावीर के पास ही बैठ गये। इतने ...ने वहाँ अपने बैल पाकर महावीर के प्रति क्रुद्ध हो गया। उन्हें मार ...होता। अकस्मात् कोई भद्र पुरुष सामने से आ रहा था। उसने ...और कहा—"इस निरपराधी व्यक्ति को तुम्हारे बैलों से क्या ...आत्मकल्याण के ... का कल्याण करने के लिए साधना में

...इन्द्र के रूप में किया गया है। उसने
आप ... अपनी सेवायें देने के लिए सहर्ष तैयार
...के बल पर केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर
सकता है—

उनके लिए 'मुनि' शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।[3] ये दोनों शब्द महावीर की साध(ना)
के निदर्शक है । गृह त्याग करने के उपरान्त साधक महावीर केवलज्ञान की प्राप्ति के
निमित्त लगभग बारह वर्ष तक सतत साधना करते रहे । इसी काल को छद्मस्थ का(ल कहा)
गया है । दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे महावीर के इस छद्मस्थ जीवन पर वि(शेष)
प्रकाश नहीं डाला गया । उत्तरपुराण मे मात्र बत्तीस श्लोकों (३१७-३५२) में ...
वर्णन को पूरा कर दिया गया । जबकि श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्र ने इसके लि(ए)
समूचे दो सर्ग (५६५ + ६५८ = १२२३ श्लोक) समर्पित किये । उत्तरपुराण में महावीर ...
रुद्र के उपसर्ग और चन्दना के भिक्षादान का ही वर्णन मिलता है । महावीर के वि(हार)
भ्रमणादि का कोई उल्लेख वहाँ नही । इस स्थिति में आचारांग आदि ग्रन्थों में वर्णि(त)
उनकी कठोर साधना पूरक दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है ।

छद्मस्थकाल और वर्षावास

ठाणांगसूत्र मे महापद्मचरित के प्रसग में महावीर के विषय में लिखा है कि उन्होंने तीस वर्ष गृहस्थावस्था मे, बारह वर्ष तेरह पक्ष केवलज्ञान प्राप्ति में और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म प्रचार मे बिताये ।[4] तदनुसार महावीर ने महाभिनिष्क्रमण लेकर केवलज्ञान प्राप्ति तक छद्मस्थावस्था मे जिन स्थलों मे विहार और वर्षा(वास) किया, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१ कुण्डग्राम, कर्मारग्राम (कम्मन-छपरा), कोल्लाग सन्निवेश, मोराक सन्नि-वेश, ज्ञातखण्डवन, दुइज्जतग, अस्थिक ग्राम (वर्षावास) ।

२ मोराक सन्निवेश, दक्षिण-उत्तर वाचाला, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृ(ह), नालन्दा (वर्षावास) ।

३. कोल्लाग, सुवर्णखल, ब्राह्मणग्राम, चम्पा (वर्षावास) ।

४. कालाय, पत्त, कुमाराक, चोराक, पृष्ठ चम्पा (वर्षावास) ।

५. कयगला, हल्लिदुय, आवर्त, कलकबुका, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नगला, ... (लाट) देश, मलय, भद्दिल (वर्षावास) (वैशाली के पास) ।

६ कदली, तबाय, कूपिय, वैशाली, जम्बूसड, तुम्बाक, ग्रामाक, भद्दिया (व...वास) ।

७ मगध, आलभिया (वर्षावास) ।

८ कुण्डाग, बहुसालग, लोहार्गला, गोभूमि, मर्दन, शालवन, पुरिमता(ल), उन्नाग, राजगृह (वर्षावास) ।

---

३ आचारांग ६, १, ६.२०

४ ठाणांगसूत्र, ६.३.६६३, वृत्ति पृ० ४६१/१, धवला मे महावीर का केवलि(काल) २६ वर्ष ५ माह और २० दिन लिखा है ।

९. लाढ़-वज्रभूमि, शुभ्रभूमि, (वर्षावास यहाँ के शून्यों और खण्डहरों में हुआ।)

१०. कूर्मारग्राम, सिद्धार्थपुर, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती (वर्षावास)।

११. सानुलट्ठिय, दृढ़भूमि, मोसलि, सिद्धार्थपुर, वज्रगाव, आलभिया, श्वेताम्बिका, वाराणसी, मिथिला, मलय, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली (वर्षावास)।

१२. सुंसुमारपुर, नन्दिग्राम, कौशाम्बी, मेंढियाग्राम, सुमंगल, सुछेता, पालक, चम्पा (वर्षावास)।

१३. जंभिय, मेंढिय, छम्माणि, मध्यमपावा, जंभियग्राम।

विशिष्ट घटनाएँ

गोपालक का उपसर्ग

१. महाभिनिष्क्रमण कर साधक महावीर कूर्मारग्राम पहुँचे और उसके बाहर जंगल में एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर आत्मसाधना करने लगे। साधना में इतने लीन हो गये कि दृष्टिपथ में आयी वस्तु का भी संस्कार उनके चित्त को प्रभावित नहीं कर सका।

उसी समय एक घटना हुई। गाँव के किसी ग्वाले (गोपालक) ने अपने बैल चरने के लिए वहीं छोड़ दिये और स्वयं कहीं निकल गया। वापिस आने पर उसे बैल वहाँ नहीं दिखाई दिये। बैल तो चरते-चरते कुछ दूर निकल गये थे। ग्वाले ने ध्यानस्थ महावीर से पूछा—"हमारे बैल कहाँ है?" उत्तर न पाकर वह स्वयं उन्हें खोजने चल पड़ा। दैवयोग से वे बैल प्रातःकाल वापिस आकर महावीर के पास ही बैठ गये। इतने में ग्वाला आया और वहाँ अपने बैल पाकर महावीर के प्रति क्रुद्ध हो गया। उन्हें चोर समझकर वह मारने दौड़ा। अकस्मात् कोई भद्र पुरुष सामने से आ रहा था। उसने उस ग्वाले को रोका और कहा—"इस निष्परिग्रही व्यक्ति को तुम्हारे बैलों से क्या प्रयोजन? यह तो आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने के लिए साधना में लीन है।"

इस भद्र पुरुष का उल्लेख साहित्य में शक्रेन्द्र के रूप में किया गया है। उसने महावीर से कहा यदि आप चाहें तो मैं आपको अपनी सेवायें देने के लिए सहर्ष तैयार हूँ। महावीर ने उत्तर दिया—व्यक्ति दूसरों के बल पर केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता। उसे अपने ही बल पर उसे प्राप्त करना पड़ता है—

नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः परसाहायिकं क्वचित्।
केवलं केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः॥
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्।[५]

---

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ३, २९-३१

यह उत्तर सुनकर वह मनुष्य रूपी इन्द्र बड़ा प्रभावित हुआ । महावीर के न चाहते हुए भी त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के अनुसार अपने सिद्धार्थ नामक एक महत्व को उनके संरक्षण के लिए नियुक्त कर दिया । इस सिद्धार्थ को वहीं एक व्यन्तर दे कहा है ।६

आचारांग और कल्पसूत्र में इसके बाद की गई उनकी तपस्या का विस्तृत व मिलता है । महावीर अचेलक अवस्था में थे इसलिए उन्हें शीत, उष्ण, दंशमशक आ की बाधायें होना स्वाभाविक थी । भोगवासना से पीड़ित महिलाओं का भी उनकी ओर आकर्षित होना सहज ही था । निर्मोही महावीर इन सभी प्रकार की बाधाओं को निर्द्वंद्व भाव से सहते हुए विचरण करते रहे ।

कतिपय प्रतिज्ञायें . कठोर तपस्या का अभिरूप

मोराक सन्निवेशवर्ती 'दूईज्जन्तक' नामक पाषण्डस्थ आश्रम का कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था । कुलपति की अभ्यर्थना पर महावीर ने अपना वर्षावास वहीं करने का निश्चय किया । महावीर की कठोर निःस्पृही साधना देखकर आश्रमवासी दाँतो तले अँगुली दबाने लगे । संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त वर्षा न होने के कारण वनस्पति, घास आदि पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं हुई । फलतः गायें आकर पर्णकु की घास खाने लगीं । आश्रमवासी उन्हें हटाकर अपनी पर्णकुटियों की रक्षा करने लगे पर निष्परिग्रही महावीर ने कभी ऐसा नहीं किया । वे तो अपने ध्यान में दत्तचित रहते रहे । आश्रमवासियों ने इसकी शिकायत कुलपति से की । कुलपति ने महावीर से कहा कि कम से कम आपको अपनी पर्णकुटी की रक्षा तो करनी ही चाहिए । महावीर कुलपति के आग्रह से सहमत नहीं हो सके और उन्होंने वहाँ से प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया । उन्होंने यह निश्चय इसलिए किया कि वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते थे । वे तो पूर्ण समभावी थे । प्रस्थान करने के पूर्व साधक महावीर ने निम्नलिखित पाँच प्रतिज्ञायें कीं ।७

१ अप्रीतिकारक स्थान में वास नहीं करूँगा ।
२ सदैव ध्यानस्थ रहूँगा ।
३. मौनव्रती रहूँगा ।
४ पाणितल में भोजन ग्रहण करूँगा । और
५ गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा ।

---

६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ३, ३३

७ नाप्रीतिमद्गृहे वासः स्थेयं प्रतिमया सह ।
न गेहिविनयः कार्यो मौनं पाणौ च भोजनम् ॥

—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ० २८८

शूलपाणियक्ष उपसर्ग : एक प्रतिबोधन

मोराकसन्निवेश से विहार कर महावीर अस्थिग्राम पहुंचे और वहाँ वे अनुमति लेकर शूलपाणि यक्ष के आयतन में ठहर गये। कहा गया है, एक धनगामी बैल, जिसकी सेवा-शुश्रूषा की ओर ग्रामवासियों ने उपेक्षा दिखाई, मर कर यक्ष हो गया था और वही उन सब को सताता था। उसी के सम्मान में ग्रामवासियों ने यह मन्दिर बनवाया था। विकट स्थिति देखकर लोगों ने महावीर को वहाँ ठहरने के लिए मना किया, फिर भी वे उसी मन्दिर में ध्यानस्थ हो गये। नियमानुसार रात्रि में यक्ष आया और उसने महावीर को विविध प्रकार से तीव्र कष्ट दिये। परन्तु वे साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। इस घटना से यक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त में उसने भगवान से क्षमा माँगी और पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् महावीर ने उसे प्रतिबोध दिया—"तू आत्मा को पहचान। आत्मवत् मानकर किसी को कष्ट न दे। इन पापों का फल बड़ा दुःखदायी होता है।" यक्ष ने भगवान की आज्ञा सहर्ष स्वीकार की और मनमस्तक होकर वहाँ से चला गया।[८]

दश स्वप्न : भविष्यबोध

उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि शेष थी। महावीर ध्यानस्थ खड़े थे। फिर भी क्षणभर के लिए उन्हें निद्रा आ गई। इस बीच उन्होंने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे—

१. ताल पिशाच को स्वयं अपने हाथ से गिराना।
२. श्वेत पुंस्कोकिल का सेवा में उपस्थित होना।
३. विचित्र वर्णवाला पुंस्कोकिल सामने दिखाई देना।
४. सुगन्धित दो पुष्पमालायें दिखाई देना।
५. श्वेत गो-समुदाय दिखाई देना।
६. विकसित पद्म सरोवर का दर्शन।
७ स्वय को महासमुद्र पार करते देखना।
८. दिनकर किरणों को फैलते हुए देखना।
९ अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते हुए देखना, और
१०. स्वय को मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखना।

अस्थिग्राम में ही एक उत्पल नामक निमित्तज्ञानी था जो पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था। यक्षायतन में महावीर के ठहरने का समाचार सुनकर वह अनेक आशंकाओं की सम्भावना से चिन्तित हो उठा। प्रातःकाल होते ही वह इन्द्रशर्मा नामक पुजारी के साथ भगवान महावीर के दर्शन करने आया। साथ ही बड़ा भारी

---

८ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १०.३, १३१-१३२

जनसमुदाय भी था । महावीर को तन्दुरुस्त पाकर सभी को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई । निमित्तज्ञ उत्पल ने महावीर के स्वप्नों का फल क्रमशः इस प्रकार बताया—

१ आप मोहनीय कर्म का विनाश करेंगे ।
२ आपको शुक्लध्यान की प्राप्ति होगी ।
३ आप विविध ज्ञानरूप द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे ।
४ चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं समझ सका ।
५ चतुर्विध संघ की आप स्थापना करेंगे ।
६ चारों प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे ।
७ आप संसार सागर को पार करेंगे ।
८ आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे ।
९ आपकी कीर्ति त्रिलोक में व्याप्त होगी, और
१० सिंहासनारूढ होकर आप लोक में धर्मोपदेश करेंगे ।

जिस चतुर्थ स्वप्न का उत्तर निमित्तज्ञ उत्पल नहीं जान सका । उसका फल महावीर ने स्वयं बताया कि मैं दो प्रकार के धर्म का कथन करूँगा—श्रावक धर्म और मुनिधर्म । इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्म को सुव्यवस्थित करने का महत्वपूर्ण कार्य महावीर की दृष्टि में था ।

निमित्तज्ञान : प्रभावात्मकता

२ साधक महावीर अस्थिग्राम में प्रथम वर्षावास समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को मोराक सन्निवेश पहुँचे । वहाँ वे नगर के बाहर के उद्यान में ठहरे । नगर में एक अच्छन्दक नामक पाखण्डी ज्योतिषी रहता था । उसकी आजीविका का साधन ज्योतिष ही था । उस समय निमित्तज्ञानी का बहुत आदर-सम्मान होता था । अच्छन्दक को जो प्रतिष्ठा मिली उसकी आड़ में उसने अनेक दुष्पाप करना प्रारम्भ कर दिये । महावीर के आध्यात्मिक तेज से सारी जनता इतनी अधिक प्रभावित हो गई कि अच्छन्दक का प्रभाव उसके मन से जाता रहा । समूचा नगर उनकी पूजा करने लगा । अच्छन्दक के पाप भी शनैं-शनैं प्रगट हो गये । अब अच्छन्दक की आजीविका का साधन तिरोहित होने लगा । तब असहाय होकर वह महावीर के पास आया और कहने लगा—"यहाँ आपके उपस्थित रहने से मेरी आजीविका समाप्त-प्राय हो रही है । आप तो निःस्पृही हैं । यदि आप यहाँ से चले जावें तो मेरा कल्याण हो जावेगा ।"[1] अतः दयालु महावीर ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अन्यत्र ध्यानस्थ

चण्डकौशिक सर्प : एक दिशाबोध

मोराक सन्निवेश से महावीर सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के ।

---

१ आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २७५

स्वयं जिनकल्प दीक्षा धारण कर ली। साधनाकाल में ही एक आरक्षक पुत्र ने उन्हें तस्कर समझकर उनका अन्त कर दिया। शुभ वृत्तियों के कारण उन्होंने उसी जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लिया।[13]

अग्नि-उपसर्ग : कठोर साधना

५. हलिद्दुय में साधक महावीर एक हलिद्दग नामक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। उसी वृक्ष के नीचे कुछ और भी व्यक्ति ठहरे हुए थे। वे रात्रि में आग जलाकर शीत से बचते रहे और प्रातःकाल उसे बिना बुझाये ही वहाँ से चल पड़े। संयोग से वह आग फैल गई और उसकी लपटों में महावीर के पैर झुलस गये। फिर भी वे विचलित नहीं हुए।[14]

अनार्य देशों में भ्रमण : समभावशीलता

इसके बाद साधक महावीर के मन में यह विचार आया कि विहार भूमि तो उनसे परिचित है। ऐसे स्थान पर क्यों न जाया जाय जहाँ कि उनका कोई परिचित ही न हो। ऐसे अपरिचित स्थानों पर ही साधना-ज्योति में चमक आ सकती है और कर्मों की निर्जरा हो सकती है। यह सोचकर महावीर ने लाढ़ देश में जाने का निश्चय किया। यह देश उस समय असंस्कृत और अगम्य था। इसलिए साधारणतः वहाँ मुनियों का विहार नहीं होता था। इस दृष्टि से महावीर का यहाँ विहार विशेष महत्त्वपूर्ण था।

महावीर लाढ़ देश पहुँचे परन्तु वहाँ उन्हें अनुकूल भोजन और आवास भी नहीं मिल सका। वहाँ के लोग उन पर कुत्ते छोड़ देते, लाठियाँ मारते और उन्हें घसीटते। इन सभी उपसर्गों को महावीर का समभावशील अस्तित्व सहर्ष सहन करता रहा। उन्हें न आहार का लोभ था, न शरीर से मोह और न किसी प्रकार की विषय-वासना की इच्छा। इसलिए वीतरागी होकर सभी प्रकार के उपसर्ग सहन करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई।[15]

गोशालक से पार्थक्य : आवश्यकता की अनुभूति

[illegible] र भ्रमण करते हुए साधक महावीर ने वैशाली की ओर [illegible] शालक ने उनसे कहा—"मुझे आपके कारण बहुत दुःख [illegible] अच्छा यही है कि मैं आपसे पृथक् बना रहूँ।" महावीर [illegible] कर लिया। पार्थक्य हो जाने पर महावीर वैशाली [illegible] राजगृह जा पहुँचा।

[illegible], पृ० २८६

मक्खलि गोशालक से भेंट · एक नया अध्याय

साधक महावीर एक बार तन्तुवायशाला मे ठहरे हुए थे। मक्खलिपुत्र गोशाल भी वही रुका हुआ था। एक बार गोशालक के पूछने पर महावीर ने बता दिया कि तुम्हे आज भिक्षा मे कोदो का बासा चावल (भात), खट्टी छाछ और खोटा सिक्का मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर भी गोशालक को भिक्षा मे यही सब कुछ मिला। इस घटना से वह नियतिवादी बन गया।[11]

इधर महावीर पारणा लेकर नालन्दा से कोल्लाग सन्निवेश पहुंचे। वहाँ बहु नामक ब्राह्मण के घर आहार लिया। गोशालक भी महावीर को खोजते-खोजते कोल्लाग पहुंच गया और वहाँ उसने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।[12]

इसके पश्चात् छह वर्ष तक गोशालक अविरल रूप से महावीर के साथ रहा। इस बीच अनेक ऐसी घटनायें हुईं जिनसे गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर दृढ़तर होता गया और अन्तत वह घोर नियतिवादी हो गया।

३. कोल्लाग सन्निवेश से विहारकर महावीर सुवर्णखल पहुंचे। मार्ग मे कुछ ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने कहा—'रुकिये, हम लोग खीर खाकर चलेंगे।' महावीर ने कहा– 'यह खीर पक नहीं पायेगी। उसके पकने के पूर्व ही हांडी फू जायेगी।' महावीर की यह सूक्ष्मान्वेक्षण शक्ति का प्रदर्शन था। अनुमान सही निकला। गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर और बढ़ गया।

४ महावीर के साथ रहते हुए भी गोशालक की वृत्तियाँ शान्त नहीं हुई थी। वह क्रोधी और रागी प्रकृति का था। इसलिए उसे अनेक स्थानो पर अपमान स करना पड़ा। कभी वह महिलाओ से छेड़-छाड़ करता तो कभी परमतावलम्बी व पार्श्व परम्परानुयायी साधुओं और श्रावको से झगड़ पड़ता। इसलिए जनसमुदाय के रोष का वह शिकार हो जाता।

पार्श्वस्थ साधुओं से भेंट पुरातन परम्परा का एकीकरण

कूर्मार सन्निवेश मे पार्श्वनाथ परम्परा के सम्मानीय साधुओ से गोशालक की भेंट हुई। महावीर तो उद्यान मे ही ध्यानस्थ रहे पर गोशालक गाँव में भि गया। वहाँ विविध वस्त्र पहने पार्श्वनाथ परम्परा के साधुओं से गोशालक की भेंट और उनसे विवाद होने पर गोशालक ने उपाश्रय जल जाने का अभिशाप भी दिया।[1]

महावीर से भी उनकी भेंट हुई और वे बड़े प्रसन्न हुए। सम्मानीय साधुओं के प्रधान आचार्य मुनिचन्द्र ने तो उसी समय अपने मुख्य शिष्य को कार्यभार सौंपकर

११ आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग पृ० २८३
१२ भगवती सूत्र, १५, १, ५४२
१३ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०, ३, ४१२

स्वयं जिनकल्प दीक्षा धारण कर ली। साधनाकाल में ही एक आरक्षक पुत्र ने उन्हें तस्कर समझकर उनका अन्त कर दिया। शुभ वृत्तियों के कारण उन्होंने उसी जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लिया।[13]

अग्नि-उपसर्ग : कठोर साधना

५. हलिद्दुय में साधक महावीर एक हलिद्दुग नामक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। उसी वृक्ष के नीचे कुछ और भी व्यक्ति ठहरे हुए थे। वे रात्रि में आग जलाकर शीत से बचते रहे और प्रातःकाल उसे बिना बुझाये ही वहाँ से चल पड़े। संयोग से वह आग फैल गई और उसकी लपटों में महावीर के पैर झुलस गये। फिर भी वे विचलित नहीं हुए।[14]

अनार्य देशों में भ्रमण : समभावशीलता

इसके बाद साधक महावीर के मन में यह विचार आया कि विहार भूमि तो उनसे परिचित है। ऐसे स्थान पर क्यों न जाया जाय जहाँ कि उनका कोई परिचित ही न हो। ऐसे अपरिचित स्थानों पर ही साधना-ज्योति में चमक आ सकती है और कर्मों की निर्जरा हो सकती है। यह सोचकर महावीर ने लाढ देश में जाने का निश्चय किया। यह देश उस समय असंस्कृत और असभ्य था। इसलिए साधारणतः वहाँ मुनियों का विहार नहीं होता था। इस दृष्टि से महावीर का यहाँ विहार विशेष महत्त्वपूर्ण था।

महावीर लाढ देश पहुँचे परन्तु वहाँ उन्हें अनुकूल भोजन और आवास भी नहीं मिल सका। वहाँ के लोग उन पर कुत्ते छोड़ देते, लाठियाँ मारते और उन्हें घसीटते। इन सभी उपसर्गों को महावीर का समभावशील व्यक्तित्व सहर्ष सहन करता रहा। उन्हें न आहार का लोभ था, न शरीर से मोह और न किसी प्रकार की विषय-वासना की इच्छा। इसलिए वीतरागी होकर सभी प्रकार के उपसर्ग सहन करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई।[15]

गोशालक से पार्थक्य : आवश्यकता की अनुभूति

अनार्य देशों से लौटकर भ्रमण करते हुए साधक महावीर ने वैशाली की ओर विहार किया। मार्ग में ही गोशालक ने उनसे कहा—"मुझे आपके कारण बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः अधिक अच्छा यही है कि मैं आपसे पृथक् बना रहूँ।" महावीर ने उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। पार्थक्य हो जाने पर महावीर वैशाली की ओर चल पड़े और गोशालक राजगृह जा पहुँचा।

---

१३ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८९
१४ वही, पृ० २८८
१५ आचारांग, ९, ३, ४-५

उपासकों और भक्तों के बीच उनका यह अनाहार आश्चर्य, चिन्ता और चर्चा का विषय बन गया। प्रतिज्ञा के विषय में किसी को भी जानकारी नहीं थी। अभिग्रह को किये हुए पाँच माह पच्चीस दिन व्यतीत हो चुके थे।

संयोगवश महावीर भिक्षा के लिए धनावह सेठ के घर पहुँचे। वहाँ राजकु[मारी] चन्दना तीन दिन की उपवासी, हथकड़ी और बेड़ी पहने हुए, सूप में उबाला कुल[थी] लिए हुए किसी अतिथि की प्रतीक्षा में थी कि उसे तेजस्वी तपस्वी महावीर आते दिखे। महावीर का अभिग्रह अभी पूरा नहीं हुआ था। इसलिए जैसे ही वे वापिस जाने लगे कि चन्दना की आँखों में आँसू आ गये। तत्काल महावीर की प्रतिज्ञा अब पूरी हो चुकी थी। उन्होंने चन्दना के हाथ से पारणा कर ली। चन्दना भक्त व्यक्तियों के कण्ठ का हार बन गई। यही चन्दना कालान्तर में भगवान महावीर की प्र[थम] साध्वी हुई।

गोपालक उपसर्ग

१३ एक बार छम्माणि के बाह्य उद्यान में महावीर ध्यानस्थ थे। वहाँ सन्ध्या काल में एक ग्वाला अपने बैल छोड़कर गाँव चला गया। लौटने पर उसे वहाँ बैल दिखाई नहीं दिये। महावीर से पूछने पर कोई उत्तर नहीं मिला। क्रुद्ध होकर उनके दोनों कानों में काँस नामक घास की शलाकायें डाल दीं और उन्हें पत्थर से ठोक दिया कि वे परस्पर में भीतर मिल गईं। बाहर के शेष भाग को उसने तोड़ दि[या] ताकि कोई उन्हें देख न सके। महावीर ने इस असह्य वेदना को भी शान्तिपूर्व[क] सह लिया।[१७]

कर्णशलाका निष्कासन उपसर्ग

छम्माणि से महावीर मध्यम पावा पहुँचे। वहाँ भिक्षा के लिए वे सिद्धार्थ नामक वणिक के घर गये। सिद्धार्थ उस समय अपने मित्र 'खरक' नामक वै[द्य से] बात कर रहा था। उन दोनों ने महावीर को देखते ही उनकी वेदना का आ[भास] कर लिया। इधर महावीर उद्यान में आकर ध्यानस्थ हो गये। सिद्धार्थ और ख[रक] औषधियों के साथ महावीर को खोजते हुए उद्यान में पहुँचे। उन्होंने उनकी तेल मालिश की और फिर संडासी से दोनों कानों की शलाकायें बाहर निकाल दीं। रुधिरयुक्त शलाकाओं के निकालने की तीव्र वेदना से महावीर के मुँह से एक तीखी चीख निकली। वैद्य खरक ने घाव पर संरोहण औषधि लगा दी और वन्दना करके चला गया।

आश्चर्य की बात है कि महावीर की तपस्या का प्रारम्भ भी ग्वाले के उपसर्ग से हुआ और उसका अन्त भी ग्वाले के ही उपसर्ग से हुआ।

---

१७ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० ३.२०-१

आगमों के अनुसार महावीर ने साधनाकाल में अनेक उपसर्ग सहे। उनमें जघन्य उपसर्ग कटपूतना राक्षसी का, मध्यम उपसर्ग संगम का और उत्कृष्ट उपसर्ग कानों में कीलों के ठोकने और निकाले जाने का था।[८]

दुर्धर तप

इस प्रकार साधक महावीर छद्मस्थ काल में लगातार लगभग साढ़े बारह वर्ष तक कठोर साधना में लगे रहे। इस बीच उन्हें कहीं चोर समझा गया तो कहीं गुप्तचर, कहीं योगी तो कहीं भोगी, कहीं ज्ञानी तो कहीं अज्ञानी। फलतः उन्हें सभी प्रकार के उपद्रवों को झेलना पड़ा। साधक महावीर वीतरागी और महाज्ञानी थे। उन्हें किसी प्रकार का राग, द्वेष, मोह नहीं था। वे तो उद्यान, गुफा, पर्वत, वृक्ष का श्मशान, चैत्य, खण्डहर आदि एकान्त स्थानों पर अपनी साधना में मग्न हो जाते थे और मौनव्रती बनकर सभी प्रकार की प्राकृतिक और अप्राकृतिक बाधाओं को सहन करते रहे।[९]

साधनाकाल में महावीर को उचित आहार भी अप्राप्य रहा। प्रायः उन्हें नीरस आहार मिलता जिसे वे निस्पृही होकर मात्र शरीर के संरक्षणार्थ ग्रहण कर लेते। सम्पूर्ण साधनाकाल में उन्होंने कुल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया और शेष दिन निर्जल तपस्या में बिताये। कल्पसूत्र (सूत्र ११६) में उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या का वर्णन इस प्रकार किया हुआ है—

१. छः मासी तप एक
२. पाँच दिन कम छः मासी तप एक
३. चातुर्मासिक तप नौ
४. त्रैमासिक तप दो
५. सार्ध द्वैमासिक तप दो
६. द्वैमासिक तप छः
७. सार्धमासिक तप दो
८. मासिक तप बारह
९. पाक्षिक तप बहत्तर
१०. भद्रप्रतिमा एक दिन की
११. महाभद्रप्रतिमा चार दिन की
१२. सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की
१३. षष्ठभक्त दो सौ उनतीस
१४. अष्टमभक्त बारह

---

८ कल्पसूत्र ११६; आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ. ३२२ ।
९ नागो संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे । आचारांग, ९-३-८ ।

१५ पारणा तीन सौ उनचास दिन और
१६. दीक्षा का एक दिन।

केवलज्ञान की प्राप्ति

लगभग साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करते-करते साधक महावीर की अनुत्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे विमल होती गयी। तेरहवें वर्षायोग मे वे पावा से विहार करते हुए जंभियग्राम पहुंचे और वहाँ के बाह्य उद्यान मे ध्या हो गये। साधना की यह चरमावस्था थी और उसका चरमफल भी। महावीर आत्मा अब पूर्णत निर्मल हो चुकी थी। उनका राग, द्वेष, मोह समूल नष्ट हो चु था। फलत वैसाख शुक्ला दशमी को दिन के चतुर्थ प्रहर मे ऋजुकूला नदी के तटवर्ती शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसनकाल मे महावीर को कैवल्य की प्राप्ति हो गई। उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मो हो गया। अब महावीर अर्हन्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। वे समस्त समस्त पर्यायो को एक साथ हस्तामलकवत् जानने-देखने लगे।[20] यह उनके की अनन्त शक्ति का प्रस्फुटन था। बौद्ध साहित्य मे भी उनकी सर्वज्ञता के एकाधिक बार आये है।[21] वहाँ भी उन्हे गणी, गणाचार्य और तीर्थंकर क स्मरण किया गया है। कालान्तर मे उनको भगवान कहकर भी सम्बोधित कि जाने लगा। इन सभी शब्दो के पीछे भगवान महावीर के व्यक्तित्व की विशेषता छिपी हुई है जिन्हें हम अस्वीकार नहीं कर सकते। तीर्थंकर प्रकृति का स परिणाम था।

जंभियग्राम की अवस्थिति के सन्दर्भ मे विद्वानों मे मतभेद है। कामताप्रसाद का कथन है कि प्राचीन लाट देश का विजय भूमि प्रान्त वर्तमान बिहार के अन्त छोटा नागपुर डिवीजन के मानभूमि और सिंहभूमि के समीप झरिया नामक ग्राम जृम्भिक ग्राम होना चाहिए। यहाँ की बराकर नदी प्राचीन ऋजुकूला नदी होगी। इस स्थान पर खादान निकालते समय पत्थर निकलता है। इसलिए यही वज्रभूमि है।[22] मुनिकल्याण विजयजी इस ग्राम को सम्मेदशिखर से दक्षिण में बारह कोस पर दामोदर नदी के पास बसे जंभिय गाँव से मिलाते है।[23]

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री इन दोनो मतो को स्वीकार नहीं करते। वे मुंगेर के दक्षिण की ओर पचास मील की दूरी पर स्थित लखुई गाँव को जृम्भिक ग्राम म

---

२० कसायपाहुड़, भाग १, पृ ८०, तिलोय पण्णत्ति ४।७०१।

२१ विस्तार से देखिये, लेखक का ग्रन्थ—Jainism in Buddhist Literatu नागपुर, १९७२।

२२ भगवान महावीर।

२३ श्रमण भगवान महावीर, पृ. २३०।

है। यह स्थान वर्तमान क्विल नदी के तट पर है। यह नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश है। जमुई के दक्षिण में लगभग ४-५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है, जो महावीर के केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान की स्मृति को बनाये रखने के लिए प्रसिद्ध हुआ है। इस गाँव के समीप अञ्जन नदी बहती है जो ऋजुपालिका अथवा ऋजुवालिका होना चाहिए। जमुई से राजगृह लगभग ३० मील की दूरी पर है। झरिया से चम्पा और राजगृह की दूरी सौ-सवा-सौ मील से भी अधिक है। जमुई चम्पा के भी निकट है। अतः यह निश्चित है कि भगवान महावीर का बोधि स्थान ऐसी जगह था जो राजगृह और चम्पा दोनों से ३०-३५ मील दूरी से अधिक न था। जमुई भी वज्रभूमि है। यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते हैं, पहाड़ी स्थान भी है। 'क्विल' नदी का तटवर्ती प्रदेश है। जमीन पथरीली और ऊबड़-खाबड़ है।[२४]

लगता है यही स्थान जृम्भिकग्राम होगा। ऋजुकूला का अपभ्रंश 'क्विल' हो सकता है। भगवान महावीर छम्माणि से मध्यमपावा और मध्यमपावा से जृम्भिक ग्राम पहुँचे थे। यह छम्माणि जमुई और लिछुवाड़ अथवा लिच्छवाड के बीच बसा मिमिरिया गाँव हो सकता है। यहीं से मध्यमपावा होते हुए भगवान जमुई ग्राम गये होंगे। अत यही जमुई प्राचीन जृम्भिक गाँव होना चाहिए। ☆

---

२४ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ. १८०।

धर्मचक्रप्रवर्तन : प्राणियों के कल्याण में

धर्मचक्रप्रवर्तन : प्राणियों के कल्याण में

विद्वानों की खोज में

केवलज्ञानी हो जाने पर सर्वज्ञ महावीर अर्हन्त बन गये। उन्होंने स्वयं के अनुभूतिमय जीवन-दर्शन को संसरण से संतुप्त जन-साधारण तक पहुँचाने का लक्ष्य बनाया ताकि वह भी यथाशक्ति आध्यात्मिक साधना कर संसार के इस जन्म-मरण के दुश्चक्कर से दूर हो सके। इस दृष्टि से उन्होंने अपना धर्म-प्रचार (धम्मचक्कपवत्तन) करना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम देशनाकाल में जनसमूह उनके सर्वविरति व्रत ग्रहण रूप गम्भीर उपदेश को ग्रहण नहीं कर सका। इसीलिए शायद उसे 'अभाविता परिषद्' कहा गया है। इसलिए भगवान महावीर ने सर्वप्रथम अपनी बात कतिपय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का निर्णय किया। बुद्ध ने भी अपना प्रथम धर्मोपदेश पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। आचार्य जिनसेन के अनुसार पैंसठ दिनों तक महावीर की दिव्यवाणी प्रकट नहीं हुई। किसी ने सर्वविरति महाव्रत ग्रहण नहीं किया। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने द्वितीय दिन पावा में धर्मोपदेश दिया और तीर्थ की स्थापना की।

विद्वान शिष्यों की खोज में महावीर जृम्भिका ग्राम से मध्यमपावा पहुँचे। वहाँ आर्य सोमिल ने विराट यज्ञ का समायोजन किया था जिसमें अनेक स्थानों से प्रकाण्ड पण्डित उपस्थित हुए थे। इस समय महावीर भी बहुजन परिचित हो चुके थे। पावा पहुँचते ही उनके भक्तों ने एक सुन्दर और सुव्यवस्थित विशाल मण्डप बनाया जिसे शास्त्रीय परिभाषा में देवरचित समवशरण कहा गया है। वहाँ बिना किसी भेद-भाव के सभी को समान रूप में बैठने का अवसर दिया गया। तात्कालिक सामाजिक विषम परिस्थिति में यह एक विशेष आकर्षक घटना थी। महावीर भगवान ने वहाँ बैठकर अपना दिव्य उपदेश दिया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को राजगृह (पचशैलपुर) के विपुलाचल पर्वत पर घटित मानती है।

प्राकृत : अभिव्यक्ति का माध्यम

भगवान महावीर के उपदेश की भाषा जन-साधारण की थी जिसे अर्धमागधी अथवा प्राकृत कहा गया है। संस्कृत तो अभिजात्य वर्ग की भाषा थी जो विशेष शिक्षित अथवा उच्च वर्गों और उच्च वर्णों तक सीमित थी। यह वर्ग संख्या में अल्पतर था।

इसलिए लोकभाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। प्राकृत ही सर्वसाधारण की अभिव्यक्ति का साधन था। यही कारण था कि सभी श्रोतागण उनके उपदेश को भांति समझ लिया करते थे। यह प्रथम समय था जबकि किसी ने लोकभाषा को इ महत्त्व दिया। इस लोकभाषा का क्षेत्र उत्तर में वैशाली से लेकर दक्षिण में रा और मगध के दक्षिणी किनारे तक तथा पूर्व में राढ़भूमि से लेकर पश्चिम में म की सीमा तक फैला था।

गणधर

भगवान महावीर का व्यक्तित्व बहुत अधिक लोकप्रिय हो चुका था। वे विद्वानों और मनीषियों में अप्रतिम थे। उनके उपदेश सर्वसाधारण के भी अन्तस्तल तक पहुंचने लगे थे। इसलिए वे जनसमुदाय के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु बन गये थे। इस स्थिति में यह आवश्यक था कि भगवान महावीर अपने धर्म-प्रचार के लिए कतिप विशिष्ट विद्वानों को शिष्य बनायें जो उनके सिद्धान्तों को समुचित रूप जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर सकें। इन्हीं शिष्यों को शास्त्रीय परिभाषा कहा गया है।

महावीर स्वामी के इस प्रकार के ग्यारह गणधर बताये गये हैं— अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता और प्रभास। ये सभी विद्वान महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके पा और अपने प्रश्नों का समाधान पाकर उनके परम शिष्य बन गये।

१. इन्द्रभूति गौतम

मगधवर्ती गोबर ग्राम में वसुभूति नामक एक ब्राह्मण विद्वान रहता था। उ तीन पुत्र थे—इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति। ये तीनों पुत्र भी वैदिक साहि और क्रियाकाण्ड के कुशल और प्रतिभाशाली पर अहम्मन्य पण्डित थे। वे अपने सम और किसी दूसरे की विद्वत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उस समय यज्ञ क्रियाक अधिक लोकप्रिय था। मध्यमपावा में इन्द्रभूति अपने शिष्यों सहित आर्य सोमिल के विराट यज्ञ का आयोजन करा रहे थे। भगवान महावीर भी जृम्भिकाग्राम से वहाँ पहुंचे और बाहर उद्यान में ध्यानस्थ हो गए।

आश्चर्य की बात थी कि जन समुदाय याज्ञिक उत्सव की अपेक्षा महावीर के दर्शन करने में अधिक उत्साह दिखा रहा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक क्रियाकाण्ड की जड़ें हिल चुकी थीं। समाज सही मार्गदर्शन पाने के लिए आतुर था।

इन्द्रभूति के लिए भगवान महावीर की लोकप्रियता ईर्ष्या का कारण बन गई। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इतने में ही एक वृद्ध विद्वान् व्यक्ति उनसे निम्नलिखित श्लोक का अर्थ पूछने आया—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य॥

इन्द्रभूति के लिए अस्तिकाय, छज्जीवणिकाय, महव्रय, अट्ठपवयणमादा आदि पारिभाषिक शब्द बिल्कुल नए थे। इसलिए विवश होकर उन्हें उससे यह कहना पड़ा कि मैं इस गाथा का अर्थ तुम्हारे गुरु के समक्ष ही बताऊँगा।

यहाँ वृद्ध शिष्य षट्खण्डागम के अनुसार तो इन्द्र था पर अपने आपको तीर्थंकर या विद्वान मानने वालों की परीक्षा करने वाला कोई विशिष्ट व्यक्ति रहा होगा अथवा यह भी सम्भव है कि महावीर की देशना कहाँ तक तथ्य सगत है यह ज्ञात करने के लिए वह पण्डित-मान्य इन्द्रभूति के पास पहुँचा हो।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इन्द्रभूति आदि पावा मे विशिष्ट यज्ञ के आयोजन मे आये हुए थे। उन्होंने भगवान महावीर के विशिष्ट तेजस्वी व्यक्तित्व को देखकर उन्हें पराजित करना चाहा और वे क्रमश भगवान महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचे।

महावीर के पास पहुँचते ही इन्द्रभूति गौतम स्वत. हतप्रभ से होने लगे। समवशरणवर्ती मानस्तम्भ अज्ञानान्धकार को विगलित करने वाला प्रकाशस्तम्भ बन गया। महावीर ने स्वय उसके हृदयाश्रित प्रश्नो को उसके समक्ष रखा। इन्द्रभूति को आत्मा के अस्तित्व के सदर्भ मे विशेष शका थी। उसका पक्ष था कि आत्मा घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमानगम्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक होता है। आत्मा आगमगम्य भी नहीं है क्योंकि अनुमान के विना आगम की सिद्धि नहीं होती। अदृष्टार्थ विषयक नरक, स्वर्ग आदि की सिद्धि का भी अनुमान ही मूल कारण है तथा तीर्थंकरों के सभी आगम परस्पर विरोधी हैं अतएव आत्मा के अस्तित्व के विषय मे सशय ही उत्पन्न होता है।

भगवान महावीर ने गौतम इन्द्रभूति के उक्त संदेह को दूर करते हुए कहा कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि स्वसवेदन-सिद्ध जो सशयादि विज्ञान तुम्हारे हृदय मे प्रस्फुटित हो रहा है वह विज्ञान ही आत्मा है। और जो प्रत्यक्ष है वह प्रमाणान्तर द्वारा साध्य नहीं अथवा अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जैसे स्वशरीर मे ही सुख-दु खादिक आत्मसवेदन सिद्ध है तथा जानता हूँ, बोलता हूँ, करता हूँ, इत्यादि प्रकार से जो यह त्रैकालिक, कार्य व्यपदेश है उसमे रहने वाले अह प्रत्यय से भी आत्मसिद्धि होती है। जिसे आत्मनिश्चय का सशय होगा, वह कर्मबन्ध मोक्षादिक के विषय मे भी सशयालु रहेगा। स्मृति, जिज्ञासा, चिकीर्षा आदि गुणो का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से घट जैसे आत्मा गुणी भी प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। यदि गुणों से गुणी को अनर्थान्तरभूत माना जाय तो उसके ग्रहण होने पर आत्मा का ग्रहण हो ही जायगा। यदि

---

१ षट्खण्डागम, भाग ६, पृ० १२६

गुणो से गुणी को अर्थान्तरभूत माना जाय तो घटादि गुणी भी प्रत्यक्ष नहीं। अतः द्रव्य से विरहित कोई गुण नहीं होता।[2]

इन्द्रभूति गौतम महावीर भगवान से अपने प्रश्न का समुचित समाधान पा प्रसन्न हुआ और तत्काल उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उसकी प्रतिभा का उन्मेष हुआ और श्रद्धा व्यक्त हुई तथा परिणाम निर्मल हुए। जैन साहित्य में इन्द्रभूति को प्रथम गणधर कहा गया है। भगवान महावीर के उपदेशों का विवेचन, प्रचारण और प्रसारण का समूचा उत्तरदायित्व और श्रेय इन्द्रभूति गौतम को ही है।

२. अग्निभूति

इन्द्रभूति के बाद शेष दस प्रमुख विद्वान भी क्रमशः महावीर के शिष्य गये। द्वितीय विद्वान अग्निभूति का सन्देह था कि कर्म है या नहीं। महावीर कहा कि कर्म का अस्तित्व निश्चित रूप से है। वह प्रत्यक्षतः नहीं पर अनुमान अवश्य दिखाई देता है। सुख-दुःखादिक की अनुभूति का कारण कर्म ही है। तुल्य साधन होने पर सुख दुःखादि के अनुभवन में जो तारतम्य देखा जाता है उसका मूल कारण कर्म है। बाल शरीर का पूर्ववर्ती जो शरीरान्तर है वह कर्म है। वही कर्म कार्मण शरीर है।[3] अपने प्रश्न का उचित उत्तर पाकर अग्निभूति भी महावीर का शिष्य बन गया।

३ वायुभूति

वायुभूति का मन्तव्य था कि चैतन्य भूतो का धर्म है तथा शरीर और आ अभिन्न है। महावीर ने कहा कि भूत की प्रत्येक अवस्था में चेतना का अभाव पर सामुदायिक रूप में चेतना की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? रेणु समुदाय में तेल कैसे उत्पन्न हो सकता है? भूतो के प्रत्येक अंग में चेतन की न्यूनमात्रता मा जाय और उसके सामुदायिक रूप से चेतना की उत्पत्ति मानी जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार मद्यांगो में न्यूनाधिक मात्रा में मद शक्ति रहती है उसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्य शक्ति दिखाई नहीं देती। मद्य के प्रत्येक अंग में मदशक्ति मानना अनावश्यक कहा नहीं जा सकता अन्यथा कोई भी वस्तु मद का कारण हो जायगी। अतः चैतन्य भूतो का धर्म नहीं माना जा सकता और न शरीर व आत्मा अभिन्न कहे जा सकते हैं।[4] वायुभूति भी अपने प्रश्न का समाधान पाकर महावीर का शिष्य हो गया।

---

२ विशेषावश्यक भाष्य, १५४०-६०
३ विशेषावश्यक भाष्य, १६१०-१४
४ वही, १६५०-१६५४

४. व्यक्त

विद्वान व्यक्त अथवा शुचिदत्त का सन्देह था कि भूतों का कोई अस्तित्व नहीं। वे मात्र स्वप्नोपम हैं। महावीर ने कहा यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाशकुसुम के समान सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता। विद्यमान वस्तु में ही सन्देह उत्पन्न होता है। व्यक्त का समाधान हुआ और उसने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। आगे चलकर यही सिद्धान्त शून्यवाद के रूप में साहित्य और दर्शन में प्रस्फुटित हुआ। विशेषावश्यक भाष्य में तो इसे शून्यवाद दर्शन ही कहा गया है।[५]

५. सुधर्मा

सुधर्मा 'इह भव के समान ही परभव में भी योनि मिलती है' यह मानते थे। महावीर ने कहा यह सोचना भ्रममूलक है। कार्य कारण के समान होता है, यह नियम एकान्तिक नहीं। शृङ्ग से शर नामक वनस्पति होती है। उसमें सर्षप लगा देने पर भूतृण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों का फल भिन्न-भिन्न होता है। उसके अनुसार ही परलोक में जन्म मिलता है।[६]

६. मण्डित

"जीव का कर्म के साथ संयोग और मोक्ष होता है" इसमें मण्डित को सन्देह था। भगवान महावीर ने कहा—बीजांकुर के समान देह और कर्म अनादि हैं हेतुहेतुमद्-भाव होने से। घट का कर्ता कुम्भकार है। उसी के समान जीव कर्म का कर्ता है और उसी प्रकार कारण होने से कर्म देह का कारण है। अनादि होने पर भी जीव और कर्म का संयोग तप द्वारा नष्ट हो सकता है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है।[७]

७. मौर्य पुत्र

मौर्यपुत्र को स्वर्गों (देवों) के अस्तित्व में सन्देह था। महावीर ने कहा देवों का अस्तित्व है। यह जातिस्मरण आदि से सिद्ध है। देवों के न होने पर स्वर्गीय फल निष्फल हो जायगा और वेद-वाक्य निरर्थक हो जायेंगे।[८] मौर्य का सम्बन्ध पिप्पलीवन के मौर्यों से था जो क्षत्रिय थे। यहाँ एक पूरा ग्राम मयूर पोषकों का था। चन्द्रगुप्त (प्रथम) इसी मौर्य वंश का था।

---

५ विशेषावश्यक भाष्य, १६६०-१७६८
६ वही, १७७०-१८०६
७ वही, १८०३-१८६०
८ वही, १८६७-१८८३

८. अकम्पित

अकम्पित का मत था कि प्रत्यक्ष और अनुमान से उपलब्ध न होने के
नारकियों का अस्तित्व नहीं है। महावीर ने कहा—नारकियों का अस्तित्व है क
उसे सर्वज्ञ ने देखा है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तो उपचारमात्र रहता है। इन्द्रियाँ
होने से उपलब्धि करने में असमर्थ हैं, समर्थ तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। पाँच खिड़कियों
देखने वाले एक व्यक्ति के समान जीव इन्द्रियों से भिन्न है। इन्द्रिय-रूप आवरण
रहित जीव अधिक वस्तुओं को जानता है। अतः नरक सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान
दोनों कारण सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृष्ट पुण्यभागी देव हैं तो प्रकृष्ट पापभागी नारकी
भी हैं ही।[९]

९. अचलभ्राता

अचल भ्राता के मन में पुण्य-पाप के सम्बन्ध में पाँच विकल्प थे—(i) केवल
पुण्य है, (ii) केवल पाप है, (iii) दोनों अपृथक् हैं, (iv) दोनों पृथक् हैं तथा (v)
स्वभाव ही सब कुछ है। महावीर ने उत्तर दिया कि पथ्याहारी के समान पुण्य की
उत्कर्षता और अपकर्षता देखी जाती है। इसी प्रकार अपथ्याहार से दुःख देखा जाता
है। अतः पुण्य-पाप दोनों हैं और वे संयुक्त हैं। परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष में उन्हें तदनु-
सार नाम दे देते हैं। दोनों पृथक् हैं और सुख, दुःख से उनका अस्तित्व माना जाता
है। स्वभाव ही सब कुछ नहीं है।[१०]

१०. मेतार्य

मेतार्य को सन्देह था कि परलोक अथवा पुनर्जन्म है या नहीं। महावीर ने
इसका समाधान किया और कहा कि जातिस्मरण आदि के कारण यह सिद्ध
भूतों के व्यतिरिक्त आत्मा है। वह अमर है और एक शरीर छोड़ कर दूसरा
धारण करता है, यही पुनर्जन्म है।

११ प्रभास

प्रभास का मत था दीप के नाश की तरह जीव का निर्वाण जीव का नाश है
अथवा अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता।
नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश हो जाता है। फिर मोक्ष कहाँ?
महावीर ने इसका उत्तर दिया कि नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश
नहीं होता। जीवत्व कर्मकृत नहीं। कर्मनाश होने पर संसार का नाश अवश्य होता
है। स्वभाव से विकार धर्म वाला न होने से जीव विनाशी सिद्ध नहीं होता। मुक्त
जाने पर जीव और कर्म का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। यहीं भगवान महावी

---

९ विशेषावश्यक भाष्य, १८८८-१८९०
१० वही, १९०८-१९४७

ने पदार्थ के स्वरूप का भी विश्लेषण किया कि वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। निश्चयनय ध्रौव्यात्मक तत्त्व का प्रतीक है और व्यवहारनय उत्पाद-व्यय तत्त्वों का।

इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम और उनके दसों प्रधान विद्वान साथी महावीर स्वामी की प्रखर विद्वत्ता और सर्वज्ञता के समक्ष सविनय नतमस्तक हुए और अपने चौदह हजार शिष्य परिवार सहित उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर लिया। महावीर स्वामी के ये ही ग्यारह प्रधान शिष्य हुए जिन्हें जैनशास्त्रों में गणधर कहा गया है। इन ग्यारह गणधरों में प्रधान गणधर थे—इन्द्रभूति गौतम।

दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओं में गणधरों की संख्या में तो कोई मतभेद नहीं पर उनके नामों में मतभेद अवश्य है। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा, मौर्यपुत्र, अकम्पित और प्रभास तो दोनों परम्पराओं को मान्य हैं पर व्यक्त, मण्डित, अचलभ्राता और मेतार्य को दिगम्बर परम्परा स्वीकार नहीं करती। उनके स्थान पर वह मौन्द्र्य, पुत्र, मैत्रेय और अन्धवेल का नाम प्रस्तावित करती है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि श्वेताम्बराम्नाय मौर्यपुत्र को एक ही गणधर मानती है पर दिगम्बराम्नाय उसे मौर्य और पुत्र नाम के पृथक्-पृथक् दो गणधर बताती है।[११]

चतुर्विध संघ की स्थापना

ग्यारह गणधरों के शिष्य बन जाने पर महावीर भगवान की लोकप्रियता और विभूति और भी अधिक बढ़ गई। साथ ही उनके अनुयायियों की संख्या में भी वृद्धि होना प्रारम्भ हो गया। यह देखकर भगवान ने नव गणों की स्थापना की और उनका उत्तरदायित्व पूर्वोक्त गणधरों को सौंप दिया।

इसके उपरान्त उन्होंने अपने अनुयायियों को भी चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। आर्यिकाओं का नेतृत्व श्रमणी चन्दनबाला को सौंपा गया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन चतुर्विध संघ की स्थापना की। बौद्ध साहित्य में संघी, गणी, गणाचरिय, तित्थकर, सब्बञ्ञू आदि सम्माननीय शब्दों से उनका अनेक बार स्मरण किया गया है।

धर्मप्रचार और वर्षावास

चतुर्विध संघ की स्थापना के उपरान्त भगवान महावीर ने सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय धर्मप्रचार करना प्रारम्भ किया ताकि सांसारिक प्राणी भौतिकता से दूर हटकर आत्म-कल्याण कर सकें। जनकल्याणकारिता के कारण ही उन्हें अर्हन्त जिन कहा गया है और पंच परमेष्ठियों में प्रथम परमेष्ठी के अन्तर्गत उनका नाम रखा गया है।

---

११ उत्तरपुराण, ७४, ३७३-३७४

८. अकम्पित

अकम्पित का मत था कि प्रत्यक्ष और अनुमान से उपलब्ध न होने के कारण नारकियों का अस्तित्व नहीं है। महावीर ने कहा—नारकियों का अस्तित्व है क्योंकि उसे सर्वज्ञ ने देखा है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तो उपचारतः रहता है। इन्द्रियाँ अमूर्त होने से उपलब्धि करने में असमर्थ हैं, समर्थ तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। पाँच खिड़कियों से देखने वाले एक व्यक्ति के समान जीव इन्द्रियों से भिन्न है। इन्द्रिय-रूप आच्छादन रहित जीव अधिक वस्तुओं को जानता है। अतः नरक सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों कारण सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृष्ट पुण्यभागी देव हैं तो प्रकृष्ट पाप भागी नारकी भी हैं ही।[९]

९. अचलभ्राता

अचल भ्राता के मन में पुण्य-पाप के सम्बन्ध में पाँच विकल्प थे—(i) केवल पुण्य है, (ii) केवल पाप है, (iii) दोनों अपृथक् हैं, (iv) दोनों पृथक् हैं तथा (v) स्वभाव ही सब कुछ है। महावीर ने उत्तर दिया कि पथ्याहारी के समान पुण्य की उत्कर्षता और अपकर्षता देखी जाती है। इसी प्रकार अपथ्याहार से दुःख देखा जाता है। अतः पुण्य-पाप दोनों हैं और वे संयुक्त हैं। परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष में उन्हें तदनुसार नाम दे देते हैं। दोनों पृथक् हैं और सुख, दुःख से उनका अस्तित्व माना जाता है। स्वभाव ही सब कुछ नहीं है।[१०]

१०. मेतार्य

मेतार्य को सन्देह था कि परलोक अथवा पुनर्जन्म है या नहीं। महावीर ने इसका समाधान किया और कहा कि जातिस्मरण आदि के कारण यह सिद्ध है कि भूतों के व्यतिरिक्त आत्मा है। वह अमर है और एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है, यही पुनर्जन्म है।

११ प्रभास

प्रभास का मत था दीप के नाश की तरह जीव का निर्वाण जीव का नाश है। अथवा अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश हो जाता है। फिर मोक्ष कहाँ ?
...र ने इसका उत्तर दिया कि नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश
... कर्मकृत नहीं। कर्मनाश होने पर संसार का नाश अवश्य होता
...रार धर्म वाला न होने से जीव विनाशी सिद्ध नहीं होता। मुक्त हो
... सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। यहाँ भगवान महावीर

८८८-१८१०

३. जब बुद्ध सामगाम देश में भ्रमण कर रहे थे तब चुन्द ने आनन्द के पास पहुँच कर यह कहा कि भन्ते ! निगण्ठनातपुत्त अभी-अभी पावा में परिनिवृत्त हुए हैं। उनके परिनिवृत्त हो जाने पर निगंठ (जैन साधु) दो भागों में विभक्त होकर कलह करने……मानो युद्ध हो रहा था।[15]

४. बुद्ध जब राजगृह में थे, सभिय ने निरग्रन्थिक निगण्ठनातपुत्त आदि से कुछ प्रश्न पूछे किन्तु वे उत्तर नहीं दे सके। सभिय उन्हीं प्रश्नों को लेकर बुद्ध के पास जाना चाहता है। तब उसके मन में यह प्रश्न-चिह्न खड़ा होता है कि श्रमण गौतम तो आयु में तरुण हैं और उन्होंने अभी-अभी प्रव्रज्या ली है।[16]

इन उद्धरणों से यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर महात्मा बुद्ध से आयु में ज्येष्ठ थे और उनका परिनिर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ था।

महावीर का परिनिर्वाणकाल साधारणतः विद्वानों ने ४६८ और ४८२ तथा ५२७ और ५४६ ई० पू० के बीच निर्धारित किया है। सम्भवतः हर्मन जैकोबी प्रथम विद्वान थे जिन्होंने महावीर की परिनिर्वाण तिथि निश्चित करने का उपक्रम किया। आचारांग सूत्र की भूमिका में महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया कि बुद्ध के पूर्व ही महावीर परिनिर्वृत हो चुके थे।[17] पश्चात् कल्पसूत्र की भूमिका में उन्होंने महावीर का परिनिर्वाण काल ४६८-६७ ई. पू. स्वीकार किया। उनका यह कथन परिशिष्टपर्वन् पर आधारित है कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद हुआ।[18] जैकोबी के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३१३ ई. पू. में हुआ। अतः महावीर का परिनिर्वाण ४६८ ई. पू. (३१३+१५५=४६८ ई. पू.) होना चाहिए। चार्पेन्टियर ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है।[19] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैकोबी और चार्पेन्टियर ने पालि साहित्य में समागत महावीर के निर्वाण से सम्बद्ध उक्त उल्लेख भ्रान्तिपूर्ण माने हैं। पर यदि हम भी उन्हें भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं तो उक्त कथन का परीक्षण करना अनिवार्य हो जायगा।

महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई. पू. में हुआ। अधिकांश विद्वान इस मत को स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में बुद्ध और महावीर के परिनिर्वाण के बीच लगभग

---

१५ मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त, ३,१,४; दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३, ६, संगीति परियायसुत्त, ३, १

१६ सुत्तनिपात, सभियसुत्त

१७ SBE. Vol. 22, Introduction, p. 22. (1884)

१८ परिशिष्टपर्वन्, ८, ३३९

१९ इण्डियन एण्टिक्वेरी, १९१४, पृ० ११८, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० १३९-१४०

धारियों को ही यहाँ गणना की गई है। सम्भव है यहाँ उसी संघ के अन्तर्गत उन्हीं को रखा गया हो, जो ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँच चुके हों। यदि ऐसा मान लें तो यह संख्या अनगार रूप से प्रव्रजित साधुओं की ही होगी। उपरिवर्ती को भी श्रावक कहा गया है। साधारण श्रावक-श्राविकाओं की गणना यहाँ नहीं होगी।

परिनिर्वाण

राजगृह से उनतीसवाँ वर्षावास कर तीर्थंकर महावीर धर्म-प्रचार करते हुए मल्लों की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) पहुँचे। वहाँ के राजा हस्तिपाल ने उनका भावभीना स्वागत किया। धर्मोपदेश देते हुए अपापापुरी में वर्षावास के तीन मास व्यतीत हो चुके। चौथे मास की कार्तिक कृष्णा अमावस्या का प्रातःकाल भगवान महावीर का अन्तिम समय था। वे अनवरत धर्मदेशना दे रहे थे। उनकी सभा में काशी, कोशल के लिच्छवी, नौ मल्ल और अठारह गणराजा भी उपस्थित थे। अन्त में उन्होंने अघातिया कर्मों का भी क्षय कर परम निर्वाण पद प्राप्त किया।[12] पालि साहित्य में भी इस घटना का वर्णन मिलता है।

भगवान महावीर ने तीस वर्ष की आयु में महाभिनिष्क्रमण किया एवं छद्मस्थ काल के बारह और केवलीचर्या के तीस, कुल बयालीस चातुर्मास किये। इस प्रकार कुल मिलाकर महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की मानी गई है।

इस निर्वाण प्राप्ति के उपलक्ष्य में लिच्छवि, मल्ल राजा महाराजाओं ने दीप जलाकर निर्वाण महोत्सव मनाया। आज भी दीपावली के रूप में उसे धूमधाम से मनाया जाता है।

परिनिर्वाणकाल

महात्मा बुद्ध के समान भगवान महावीर का भी परिनिर्वाणकाल विवादास्पद बना हुआ है। पालि साहित्य में एतत्सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं—

१ अजातशत्रु ने तथागत बुद्ध से कहा कि वह पूर्ण काश्यप आदि तथाकथित तीर्थंकरों से भेंट कर चुका है। निगण्ठनातपुत्त के भी दर्शन कर चुका है। वे सभी चिरप्रव्रजित, अद्धगत और वयोनुपत्त (वयोवृद्ध) हैं।[13]

२ प्रसेनजित ने बुद्ध से कहा कि गौतम! दूसरे श्रमण-ब्राह्मण संघी, गणाचार्य तीर्थङ्कर निगण्ठनातपुत्त आदि से भी पूछे जाने पर उनसे उत्तर मिला कि वे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकार पूर्वक कथन नहीं करते। आप तो अल्पवयस्क और सद्य: प्रव्रजित हैं। फिर यह कैसे कह सकते हैं?[14]

१२ कल्पसूत्र, १२६; उत्तर पुराण।
१३ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, भाग १, पृ० ४७
१४ संयुत्तनिकाय, दहरसुत्त

३. जब बुद्ध सामगाम देश में भ्रमण कर रहे थे तब चुन्द ने आनन्द के पास पहुँच कर यह कहा कि भंते ! निगण्ठनातपुत्त अभी-अभी पावा में परिनिवृत्त हुए हैं। उनके परिनिवृत्त हो जाने पर निगंठ (जैन साधु) दो भागों में विभक्त होकर कलह करके......मानो युद्ध हो रहा था।[१५]

४. बुद्ध जब राजगृह में थे, सभिय ने निगण्ठनातपुत्त आदि से कुछ प्रश्न पूछे, जिनका वे उत्तर नहीं दे सके। सभिय उन्हीं प्रश्नों को लेकर बुद्ध के पास आता चाहता है। तब उसके मन में यह प्रश्न चिन्ह खड़ा होता है कि श्रमण गौतम तो आयु में तरुण है और उन्होंने अभी-अभी प्रव्रज्या ली है।[१६]

इन उद्धरणों से यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर महात्मा बुद्ध से आयु में ज्येष्ठ थे और उनका परिनिर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ था।

महावीर का परिनिर्वाणकाल सामान्यतः विद्वानों ने ५२८ और ४८२ तथा ४६७ और ५४५ ई० पू० के बीच निर्धारित किया है। सम्भवतः हर्मन जेकोबी प्रथम विद्वान होंगे जिन्होंने महावीर की परिनिर्वाण तिथि निश्चित करने का उपक्रम किया। आचारांग सूत्र की भूमिका में महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया कि बुद्ध के पूर्व ही महावीर परिनिर्वृत्त हो चुके थे।[१७] तदनन्तर कल्पसूत्र की भूमिका में उन्होंने महावीर का परिनिर्वाण काल ४६८-६७ ई. पू. स्वीकार किया। उनका यह कथन परिशिष्टपर्वन् पर आधारित है कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर के निर्वाण से १५५ वर्ष बाद हुआ।[१८] जेकोबी के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३१३ ई. पू. में हुआ। अतः महावीर का परिनिर्वाण ४६८ ई. पू. (३१३+१५५=४६८ ई. पू.) होना चाहिए। चार्पेन्टियर ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है।[१९] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जेकोबी और चार्पेन्टियर ने पालि साहित्य के समागत महावीर के निर्वाण से सम्बद्ध उक्त उल्लेख भ्रान्तिपूर्ण माने हैं। पर यदि हम भी उन्हें भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं तो उक्त कथन का परीक्षण करना अनिवार्य हो जायगा।

महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई. पू. में हुआ। अधिकांश विद्वान इस मत को स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में बुद्ध और महावीर के परिनिर्वाण के बीच लगभग

---

१५ मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त, ३,१,४; दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३, ६; संगीति परियायसुत्त, ३, १
१६ सुत्तनिपात, सभियसुत्त
१७ SBE. Vol. 22, Introduction, p. 22 (1884).
१८ परिशिष्टपर्वन्, ८, ३३९
१९ इण्डियन एण्टिक्वेरी, १९१४, पृ० ११८; कैम्ब्रिज [illegible] इण्डिया, पृ० १३६-१४०

७५ वर्ष का व्यवधान रहा हो, यह तथ्यसंगत नहीं लगता। बाशम भी जेकोबी मत का अनुसरण करते हुए दिखते हैं। उनका कथन है कि पालि साहित्य में गोशा की मृत्यु के स्थान पर महावीर की मृत्यु का उल्लेख भूल से हो गया होगा।[20]

मजूमदार और रायचौधरी का मत है कि महावीर का परिनिर्वाण अजातश के सिंहासनारोहण के लगभग आठ वर्ष बाद हुआ। इसका समर्थन परिशिष्टपर्व होता है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण महावीर निर्वाण के १५५ व बाद हुआ (३२३+१५५=४७८ ई पू)।

हार्नले ने बुद्ध का निर्वाण काल ४८२ ई मानते हुए भगवती सूत्र की परम्परा[21] को सही माना है कि महावीर और गोशालक की मृत्यु में सोलह वर्ष का अन्तर है। इसलिए उनका कहना है कि महावीर का निर्वाण ४८४ ई पू. में और गोशाल का निर्वाण ५०० ई पू में हुआ।

परम्परानुसार महावीर का परिनिर्वाण ५२७ ई पू. में हुआ। अधिकांश विद्वान इस मत को स्वीकारने लगे हैं। यह परम्परा विक्रम संवत् के प्रचलन की मान्यता पर आधारित है। कुछ विद्वान मानते हैं कि विक्रम का जन्म महावीर के ४७० वर्ष बाद और सिंहासनारोहण तथा मृत्यु क्रमशः ४८८ एवं ५६८ वर्ष बाद हुई। इसी प्रकार कोई कहता है कि विक्रम संवत् महावीर की मृत्यु के ४१० वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। अर्थात् महावीर का निर्वाण काल वि सं के प्रचलन की मान्यता पर टिका हुआ है। यदि वि सं. का प्रारम्भ उसके जन्मकाल से लिया जाय तो महावीर का निर्वाणकाल ५२७ ई पू (५७+४७०=५२७ ई पू) माना जायगा। यदि उसे उसके सिंहासनारोहण से माना जाय तो यह काल ५४५ ई. पू (५७+४८८=५४५ ई. पू.) सिद्ध होगा और यदि उसे उसकी मृत्यु से प्रारम्भ हुआ कहा जाय तो महावीर का निर्वाण काल ६२२ ई. पू (४७०+८०+७२=६२२ ई पू.)। यदि हम पालक राजा के ६० वर्ष का व्यवधान मानें तो महावीर का निर्वाण काल ४६७ ई. पू. (५२७ - ६०=४६७ ई. पू) मानना पड़ेगा। इस प्रकार यह समस्या और भी विवादग्रस्त बन जाती है।

जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के परिनिर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ। हेमचन्द्र के अनुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद हुआ।[22] लगता है, हेमचन्द्र ने यहाँ भूल कर दी। महावीर निर्वाण के दिन ही पालक ने उज्जयिनी में राज्य संभाला था। उसका यह राज्य १

---

20 History and Doctrines of the Ajivikas, p. 74.

21 भगवतीसूत्र, शतक १५

22 परिशिष्ट पर्व ८,३३९

वर्ष तक रहा। उसके बाद १५५ वर्ष तक नन्द-राज्य रहा। हेमचन्द्र इन ६० वर्षों को छोड़ना भूल गये परिशिष्ट पर्वन् में। यह अधिक सम्भव है।

चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण निर्विवाद रूप से ई० पू० ३२२ माना गया है। तित्थोगालीपइन्ना आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार यह घटना महावीर निर्वाण के २१५ वर्ष बाद घटी। यह राज्यारोहण अवन्ति का होना चाहिए जो पाटलिपुत्र राज्यारोहण से दस वर्ष पूर्व हुआ। इस प्रकार महावीर का निर्वाणकाल ३२२—१०+२१५ =ई० पू० ५२७ सिद्ध होता है।

वि० सं० का प्रारम्भ महावीर के निर्वाणकाल से ४७० वर्ष बाद हुआ। यह परम्परा अधिक ऐतिहासिक मानी जाती है। यह स्पष्ट है ही कि ५७ ई० पू० में वि० सं० प्रारम्भ हुआ है। अतः महावीर का निर्वाण ५२७ (४७०+५७) ई० पू० माना जाना चाहिए। इसी प्रकार शक सवत् का प्रारम्भ महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष व पाँच माह बाद माना जाता है। शक सं० का प्रारम्भ ई० पू० ७८ में हुआ है। अतः ६०५=७८—५२७ ई० पू० में महावीर का निर्वाणकाल निःसंदिग्ध है।

हेमचन्द्र की भूल त्रिषष्टिशलाका से भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है कि चालुक्य कुमारपाल का जन्म महावीर निर्वाण से १६६९ वर्ष बाद होगा। यह निर्विवाद मान्य है कि कुमारपाल राजा का जन्म ई० ११४२ में हुआ। अतः महावीर का निर्वाणकाल १६६९—११४२ ई०=५२७ ई० पू० है।

मुनि कल्याणविजय जी, कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, शान्तिलाल जी शाह आदि विद्वान इस तिथि को स्वीकार करते हैं पर वे पालि के सम्बद्ध उद्धरणों को अप्रामाणिक मानते हैं। विजयेन्द्र सूरि उन्हें प्रामाणिक मानते हैं पर आगम का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि वहाँ महावीर का नहीं, गोशालक की मृत्यु का उल्लेख होना चाहिए।

दूसरी ओर के० पी० जायसवाल, राधाकुमुद मुखर्जी और कामताप्रसाद आदि विद्वान महावीर का निर्वाण ५४५ ई० पू० मानते हैं। उनका मुख्य तर्क यह है कि वि० सं० का प्रारम्भ विक्रम के राज्यारोहण से होना चाहिए। यदि इसे हम स्वीकार करते हैं तो महावीर का परिनिर्वाण ५७+१८+४७०=५४६-५४५ ई० पू० ठहरता है और बुद्ध का परिनिर्वाण सिंहल परम्परा द्वारा मान्य ५४४-५४३ ई० पू० निश्चित होता है। इस प्रकार दोनों महापुरुषों के परिनिर्वाण में एक वर्ष का अन्तर रह जाता है। यह तथ्य भी विचारणीय है। जैन-बौद्धागमों के आधार पर महावीर और बुद्ध की जीवन-घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है। इसे हम आगे स्वतन्त्र रूप से लिख रहे हैं।

निर्वाण-स्थल

भगवान महावीर का निर्वाण-स्थल भी एक विवाद का विषय बना हुआ है।

वह गंगा के दक्षिणवर्ती प्रदेश में स्थित पावा है अथवा उत्तरवर्ती प्रदेश में स्थित पावा है ? गंगा का उत्तरवर्ती पावा प्राचीनकाल में पडरौना और अपापापुरी के नाम से प्रचलित था। यहीं राजा हस्तिपाल की राजधानी भी थी। वर्तमान में यह गोरखपुर जिले के अन्तर्गत आता है। गंगा का दक्षिणवर्ती पावा राजगृह के समीप स्थित है जिसे परम्परा से भगवान महावीर का निर्वाण स्थल स्वीकार किया गया है।

प्रश्न यह है कि वह कौन सा पावा है जिसे महावीर के निर्वाण स्थल होने का गौरव मिला है। निर्वाण के प्रसंग में हम पालि साहित्य में प्राप्त उद्धरणों का उल्लेख कर आये हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि महावीर का निर्वाण मल्लों की राजधानी नगरी पावा में हुआ।[23]

इतिहास में मल्ल राजा दो भागों में विभाजित थे। एक पावा के मल्ल और दूसरे कुसीनारा के मल्ल। पावा के मल्लों की राजधानी में ही महावीर का निर्वाण हुआ। उत्तर में वज्जियों और मल्लों का राज्य था तथा दक्षिण में मगध में लिच्छवियों और ज्ञातृकुलों का राज्य था। उत्तर में बुद्ध का प्रभाव अधिक था और दक्षिण में महावीर का। परन्तु दोनों प्रदेशों में बुद्ध और महावीर समान रूप से विहार करते रहे और धर्मदेशना देते रहे। मल्लों और लिच्छवियों के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं थे फिर भी वे इन दोनों के भक्त थे।

भगवान महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्ल की, नौ लिच्छवी तथा अठारह गणराजा उपस्थित थे।[24] महावीर का जिस समय पावा में निर्वाण हुआ, उस समय बुद्ध कुसीनारा में थे और उनका परम शिष्य चुन्द पावा में ही वर्षावास कर रहा था। महावीर का परिनिर्वाण होते ही वह बुद्ध के पास सूचना देने स्वयं पहुंच गया। यह सम्भव तभी हो सकता है जब पावा और कुसीनारा समीप हो। दीघनिकाय अट्ठकथा में कहा है कि पावा से कुसीनारा की दूरी तीन गव्यूति (कोस) है—'पावा नगरतो तीणि गावुतानि कुसीनारा नगरं'। महावीर यही अन्तिम वर्षावास करने राजगृह से आये थे। सम्भव है, उनका यह कार्य मल्लों और लिच्छवियों के बीच एकता स्थापित करने के लिए रहा हो।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत दक्षिण पावा को महावीर भगवान का निर्वाण स्थल नहीं कहा जा सकता। यह पुनीत स्थल गंगा के उत्तरवर्ती प्रदेश में स्थित पावा ही होना चाहिए। यहीं उनका अन्तिम वर्षावास हुआ होगा।

---

२३ पावा नाम मल्लानं नगरं तदवसरि.......। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालङ्कतो होति। दीघनिकाय, पथिकवग्ग, संगीतिसुत्त।

२४ कल्पसूत्र, १२८

कन्हैयालाल सरावगी ने कुशीनगर के समीपवर्ती सठियांव नामक ग्राम को महावीर का निर्वाण-स्थल माना है। उनका कहना है कि पावापुरी का ही अपभ्रंश रूप सठियांव बन गया।[२५] परन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह सही नहीं उतरता। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने उपलब्ध प्रमाणों की मीमांसा करते हुए मगध के अन्तर्गत वर्तमान पावा को ही वास्तव पावा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[२६] देवेन्द्रमुनि जी ने भी इसी पावा को महावीर की निर्वाण-स्थली स्वीकार किया है। उनके इस मन्तव्य में तीन प्रमुख तर्क हैं—(i) मगध सम्राट् शत्रु प्रदेश में नहीं पहुंच सकता (ii) मगध सम्राट् महावीर के निर्वाणकाल में वहां उपस्थित क्यों नहीं हुआ, (iii) मगध में हस्तिपाल राजा के होने की सम्भावना ही नहीं।[२७] अतः मगधवर्ती पावा महावीर की निर्वाण भूमि नहीं मानी जा सकती।

पार्श्वनाथ और महावीर का शासन भेद

पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में किञ्चित् भेद था। यह तथ्य उत्तराध्ययन में उल्लिखित केशी-गौतम संवाद से भी प्रकट होता है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी श्रमण थे और गौतम महावीर के प्रमुख शिष्य थे। दोनों के संवाद तथा अन्य साहित्यिक उल्लेखों से पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद निम्न प्रकार से स्पष्ट हो जाता है—

(१) प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों (याम) का निरूपण किया था जबकि अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के तीर्थंकरों ने चातुर्याम का ही उपदेश दिया था। इनके अपरिग्रह में ब्रह्मचर्यव्रत अन्तर्भूत रहता था।[२८] इसका मूल कारण यह है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इसलिए प्रथम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिए मुनिधर्म का यथावत् ज्ञान दुर्लभ होता है और चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिए उसका आचरण कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के अनुयायी साधुओं के लिए उसका ज्ञान और आचरण दोनों सहज होते हैं।

(२) अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के तीर्थंकरों ने सामायिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात रूप चार चारित्रों का ही विधान किया था

---

२५ पावा समीक्षा, पृ० ४२

२६ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ० २६२-३१०

२७ भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ० ५२

२८ ठाणांगसूत्र, ४, २६६; उत्तराध्ययन, २३, १२; दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

जबकि ऋषभदेव और महावीर ने छेदोपस्थापना का विधान करके चारित्र-संख्या पांच कर दी थी। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसलिए प्रव्रज्यादायक के साथ-साथ छेदोपस्थापक आचार्य का भी उल्लेख किया है। छेद का तात्पर्य है प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति।[२९]

(३) प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेल होता है और शेष तीर्थंकरों का धर्म सचेल होता है।

(४) ऋषभदेव और महावीर ने रात्रि भोजन त्याग को व्रतों में सम्मिलित किया जबकि शेष तीर्थंकरों ने उसे व्रतों में न रखकर अहिंसा में गर्भित किया।[३०] प्रथम परम्परा उसे मूलगुण मानती है जबकि द्वितीय परम्परा उत्तरगुण। उत्तरकालीन आचार्यों में भी रात्रि भोजन त्याग के विषय में मतभेद रहा है।

(५) पार्श्व परम्परा के अनुसार भिक्षु के लिए दोषों के होने पर ही प्रतिक्रमण करना पड़ता था पर महावीर ने उसे चारित्र का एक अनिवार्य तत्त्व बना दिया। दोष हो या नहीं, प्रतिक्रमण करना आवश्यक हो गया।[३१]

☆

भगवान

---

२९ प्रवचनसार, ३. १०-१७

३० दशवैकालिक, हरिभद्रवृत्ति, पत्र १५०

३१ मूलाचार, ७. १२५-१२९; विशेषावश्यक भाष्य, १२६७

भगवान महावीरकालीन साहित्य और कला

१. आयारांग (आचारांग)
२ सूयगडांग (सूत्रकृतांग)
३. ठाणांग (स्थानांग)
४ समवायांग
५. विवाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)
६. णायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथांग)
७ उवासगदसा (उपासकदशांग)
८ अंतगडदसाओ (अन्त:कृद्दशांग)
९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिक दशांग)
१०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणांग)
११. विवागसुय (विपाकसूत्र)
१२. दिट्ठिवाए (दृष्टिवाद)

अंगबाह्य व्यतिरिक्त के पुनः दो भेद किये गये—कालिक और उत्कालिक। यहाँ उपांग जैसा कोई उल्लेख नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपांगों के रूप में आगम का विभाजन बहुत प्राचीन नहीं। अंगों के साथ उपांगों का कोई मेल भी नहीं दिखता।

अंग और अंगबाह्य ग्रन्थों में प्रक्षेपांश भी मिलते हैं। उन्हें अलग करने के बाद ही ग्रन्थों का समय निश्चित किया जा सकता है। महावीर की मूल वाणी का संकलन भी तभी हो सकता है जब हम प्रक्षेपांशों को अंग ग्रन्थों से निकाल देने के लिए तैयार हो जायें। अंगबाह्य ग्रन्थ आचार्यों के द्वारा लिखे गये हैं। वाचनाओं अथवा संकलनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। पन्नवणा (प्रज्ञापना) के कर्ता आर्य श्याम, दशाश्रुत, बृहत्कल्प, निर्युक्ति और व्यवहार सूत्रों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय (ईसा की पाँचवीं शती), दशवैकालिक के कर्ता शय्यंभव, नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक (५-६वीं शती), चाउस्सरण, आउरपच्चक्खाण और भत्तपरिन्ना प्रकीर्णकों के कर्ता वीरभद्र (ई० ९५१) पाये जाते हैं। उत्तराध्ययन एक संकलनात्मक ग्रन्थ है। शेष अंगबाह्य ग्रन्थों के लेखकों की अभी अवधारणा नहीं हो सकी। पर यह निश्चित है कि वे उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा निर्मित हुए हैं। इतना ही नहीं, लिपिबद्ध होने के पूर्व लिखे गये ग्रन्थों में भी प्रक्षेपांश सम्मिलित हो गये। अंग ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं। अतएव प्रत्येक ग्रन्थ का सूक्ष्म परीक्षण कर उनके मूल रूप को निश्चित करना तथा उनका समय निर्धारित करना एक बड़ा श्रमसाध्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य शेष है।

यहाँ हम अंग ग्रन्थों को ही महावीर की मूलवाणी मानकर उसे महावीरकालीन साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इन्हें श्रुति-परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया एवं 'मे सुयं' जैसे वाक्य वक्ता और श्रोता के बीच एक तीसरे वक्ता की बात करते हैं जो सम्भवतः महावीर रहे होंगे। उत्तरकाल में आचार शैथिल्य, अवधारणा-शक्ति शैथिल्य और श्रुति परम्परा के लोप को देखकर महावीर के उपदेशों को पुस्तकारूढ़ करने का प्रयत्न हुआ, फिर भी अंगों का आकार-प्रकार घटता-बढ़ता ही रहा। इसे हम आगे के पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे।

द्वादशांगों की संरचना पूर्व-ग्रन्थ-परम्परा पर आधारित रही है। उनके क्रम और विषय में साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में कोई विशेष मतभेद नहीं। परिमाण और स्वरूप में किंचित् भेद अवश्य दिखाई देता है। संभव है यह अन्तर प्रक्षिप्तांशों के सन्दर्भ में रहा होगा।

द्वादशांगों के नाम इस प्रकार हैं—आयारांग, सूयगडंग, ठाणांग, समवायांग, वियाहपण्णत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइं, विवागसुय एवं दिट्ठिवाय। इनका संक्षिप्त आलोचनात्मक विवरण देखने पर महावीर काल के साहित्य की रूपरेखा सामने आ जाती है।

१. आयारांग (आचारांग)

द्वादशांगों में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। सम्भवतः इसीलिए

वर्तमान में उपलब्ध आगमों में अचेलकता को स्थान स्थान पर उत्कृष्ट और सद्धात्त्वक माना गया है तथा सचेलकता को मात्र की उपासना का तर्क देकर स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में डॉ० बेचर ने कहा यह असंभव नहीं कि अनेक प्राचीन परम्पराओं को आगमों से अलग कर दिया गया है और यह देखकर दिगम्बर परम्परा ने उन्हें मानने से सर्वथा अस्वीकार कर दिया हो। भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में कुछ उदाहरण आगमों से दिये गये हैं पर वे वर्तमान में उपलब्ध आगमों में नहीं मिलते। अतः यह कहा जा सकता है कि आगमों के रूप में परिवर्तन-परिवर्धन एक लम्बे काल तक होता रहा है।

अतएव आगम परम्परा में उपलब्ध साहित्य में से महावीरकालीन साहित्य किसे कहा जाय यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस सन्दर्भ में समवायांग का प्रारम्भिक भाग उल्लेख्य है जहाँ आगमों का परिचय देते हुए कहा गया है—"इह खलु, समणेणं भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरेण—इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तंजहा आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपण्णत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुए, दिट्ठिवाए। तत्थ णं जे से चउत्थे अंगे समवाएत्ति आहिए तस्स णं अयमट्ठे, पण्णत्ते।

यहाँ "अट्ठे पण्णत्ते" पर यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमों की संरचना भगवान महावीर की नहीं बल्कि उनके उपदेशों के आधार पर अथवा उपदिष्ट प्रवचनों के अर्थ के आधार पर रचित उनके साक्षात् शिष्यों अर्थात् गणधरों की यह अर्थ रचना है। 'सुयमे आउस तेण भगवया एवमक्खायं' जैसे शब्द भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। यहाँ 'गणहर' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी गणधर मिलकर अर्थ रचना करते हों। पर दिगम्बर परम्परा ने गणधरों में भी गौतम गणधर को ही आगमों का अर्थकर्त्ता माना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा गौतम गणधर का नामोल्लेख भगवती सूत्र आदि में करते हुए भी आगमों का विशेष सम्बन्ध सुधर्मा गणधर से स्थापित करती है। उत्तरकाल में प्रत्येक बुद्धों, श्रुतकेवलियों, पूर्वज्ञों, आचार्यों आदि के द्वारा रचित ग्रन्थ भी प्रमाण रूप में स्वीकार किये गये।

ऐसा लगता है मूलागम जिनमें महावीर की मूल वाणी को गूँथने का प्रयास किया गया है, कुल मिलाकर बारह थे। इन्हीं अंग ग्रन्थों को द्वादशांग कहा गया है। गणिपिटकअंग, अंगप्रविष्ट जैसी संज्ञायें भी इसी के लिए प्रयुक्त हुई हैं। महावीर से पूर्व की आगम परम्परा जो श्रुति परम्परा से महावीर को मिली होगी, का भी समावेश इसी द्वादशांग में हो गया। इस द्वादशांग के आधार पर उत्तरकाल में रचित समस्त आगम अंगबाह्य कहे जाते हैं। समवायांग, अनुयोग, नन्दी, धवला आदि ग्रन्थों में भी यही विभाग स्वीकार किया गया है। उपांग, छेद, चूलिका, मूल आदि सूत्र ग्रन्थ उत्तरकालीन हैं। स्थानांग सूत्र में श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

अगबाह्य व्यतिरिक्त के पुनः दो भेद किये गये—कालिक और उत्कालिक। यहाँ उपांग जैसा कोई उल्लेख नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपांगों के रूप में आगम का विभाजन बहुत प्राचीन नहीं। अगों के साथ उपांगों का कोई मेल भी नहीं दिखता।

अंग और अगबाह्य ग्रन्थों में प्रक्षेपांश भी मिलते हैं। उन्हें अलग करने के बाद ही ग्रन्थों का समय निश्चित किया जा सकता है। *महावीर की मूल वाणी का* *सकलन भी तभी हो सकता है जब हम प्रक्षेपांशों को अग ग्रन्थों से निकाल देने के लिए* तैयार हो जायें। अगबाह्य ग्रन्थ आचार्यों के द्वारा लिखे गये हैं। वाचनाओं अथवा सकलनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। पण्णवणा (प्रज्ञापना) के कर्ता आर्य श्याम, दसासुय, बृहत्कल्प, निर्युक्ति और व्यवहार सूत्रों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय (ईसा की पाँचवीं सदी), दसवेकालिक के कर्ता शय्यंभव, नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक (५-६ठी सदी), पाउग्गरण, आउरपच्चक्खाण और महापरिण्णा प्रकीर्णकों के कर्ता वीरभद्र (ई० ६५१) माने जाते हैं। उत्तराध्ययन एक सकलनात्मक ग्रन्थ है। अंगबाह्य ग्रन्थों के लेखकों की अभी अवधारणा नहीं हो सकी। पर यह निश्चित है कि वे उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा निर्मित हुए हैं। इतना ही नहीं, लिपिबद्ध होने के पूर्व लिखे गये ग्रन्थों में भी प्रक्षेपांश सम्मिलित हो गये। अग ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं। अतएव प्रत्येक ग्रन्थ का सूक्ष्म परीक्षण कर उसके मूल रूप को निश्चित करना तथा उसका समय निर्धारित करना एक बड़ा श्रमसाध्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य शेष है।

यहाँ हम अग ग्रन्थों को ही महावीर की मूलवाणी मानकर उसे महावीर-कालीन साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इन्हें श्रुति-परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया एव 'मे सुयं' जैसे वाक्य वक्ता और श्रोता के बीच एक तीसरे वक्ता की बात करते हैं जो सम्भवतः महावीर रहे होंगे। उत्तरकाल में आचार शैथिल्य, अवधारणा-शक्ति शैथिल्य और श्रुति परम्परा के लोप को देखकर महावीर के उपदेशों को पुस्तकारूढ़ करने का प्रयत्न हुआ, फिर भी अगों का आकार-प्रकार घटता-बढ़ता ही रहा। इसे हम आगे के पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे।

द्वादशांगों की सरचना पूर्व-ग्रन्थ-परम्परा पर आधारित रही है। उसके क्रम और विषय में साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में कोई विशेष मतभेद नहीं। परिमाण और स्वरूप में किंचित् भेद अवश्य दिखाई देता है। सभव है यह अन्तर प्रतिस्पर्धाओं के सन्दर्भ में रहा होगा।

द्वादशांगों के नाम इस प्रकार हैं—आयारांग, सूयगडंग, ठाणांग, समवायांग, वियाहपण्णत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइं, विवागसुयं एवं दिट्ठिवाय। इनका सक्षिप्त आलोचनात्मक विवरण देखने पर महावीर काल के साहित्य की रूपरेखा सामने आ जाती है।

१. आयारांग (आचारांग)

द्वादशांगों में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। सभवतः इसीलिए

इसे अंगों का सार कहा गया है—'अंगाणं किं सारो? आयारो।'[16] इससे आचार की महत्ता प्रकट होती है। इसकी रचना पूर्व ग्रन्थों से पूर्व हुई या बाद में, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। पर चूर्णिगत यह प्रतीत होता है कि पूर्वों की रचना पहले हुई होगी और उन्हीं के आधार पर आचारांग रचा गया होगा।

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें श्रमण निर्ग्रन्थों का आचार, गोचर ग्रहण करने की विधि, विनय, विनयफल (कर्मक्षय), शिक्षा, भाषा, अभाषा, महाव्रत, चरण, विशुद्धि, यात्रा आदि का वर्णन है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं, ८५ समुद्देशकाल हैं, दो चूलिकायें हैं, और १८००० पद हैं। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार इसमें चर्या का विधान, आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति, आदि वर्णित हैं। षट्खण्डागम के अनुसार इसमें यह बताया है कि मुनि को कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़ा होना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे सोना चाहिए, कैसा भोजन करना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए।[17]

आचारांग दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है—ब्रह्मचर्य और आचारांग। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संयम के माध्यम से उसने सभी अध्ययनों को अनुस्यूत किया है। इस श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन हैं—सत्थपरिण्णा, लोगविजय, सीओसणिज्ज, सम्मत्त, आवंती अथवा लोकसार, धूय, विमोह, उवहाणसुय और महापरिण्णा। इनमें महापरिण्णा नामक अध्ययन उपलब्ध नहीं। समवायांग टीका में इस अध्ययन को आठवां क्रम दिया गया है। पर आचारांग निर्युक्ति में उसका क्रम सातवां है। संभव है शीलांक के समय तक यह अध्ययन रहा हो और बाद में किसी कारणवश उसका लोप हो गया हो। आचारांग पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति, जिनदासगणि ने चूर्णी और शीलांक ने टीका लिखी है।

आचारांग का प्रारम्भ शस्त्रपरिज्ञा (सत्थपरिण्णा) से हुआ है जिसमें जीव-संयम पर बल दिया गया है। उस समय हिंसा का वातावरण अधिक था। धर्म के नाम पर जीवों का वध एक खेल-सा बन गया था। भगवान महावीर ने जनता की मनोवृत्ति को समझा और उसे दूर करने का उपदेश दिया और कषायजन्य प्रवृत्तियों से विमुख होकर अध्यात्म मार्ग की ओर संसारियों को मोड़ने का प्रयत्न किया। इसी तरह बाह्य शुद्धि का आडम्बर, जातीय प्रधानता आदि दोषों को भी दूर करने की बात कही।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक और सचेलक दोनों परम्पराओं का वर्णन मिलता है। सचेलकों में एक वस्त्रधारी, द्वि-वस्त्रधारी, और त्रिवस्त्रधारी साधुओं का उल्लेख है, पर पाणिपात्री साधुओं का कोई उल्लेख नहीं। इसलिए लगता है कि पाणिपात्री

१६ आचारांग निर्युक्ति गाथा ८-९, आचारांग वृत्ति, पृ० ५
१७ षट्खण्डागम पृ० ९९; कषाय पाहुड, भाग १, पृ० १२२

साधुओं का अधिकांश उत्तरकालीन विकास का परिणाम रहा होगा। सम्पूर्ण स्कन्ध के अध्ययन से ऐसा लगता है कि संयोजक का झुकाव अचेलकता की ओर अधिक रहा है। उपकरण लाघव को यहाँ पर तपश्चर्या कहा गया है।[18] और यह भी कहा गया है कि यदि भिक्षु अचेल परीषह और लज्जा परीषह न सह सके तो उसे कटि-बन्ध ग्रहण करना चाहिए। इसी अध्ययन में अचेल और सचेल के बीच किसी प्रकार की श्रेष्ठता और लघुता का भाव जागृत न हो इसके लिए दोनों अवस्थाओं में समत्व रखने के लिए भी कहा गया है।[19] इससे इस ग्रन्थ के सुधारात्मक दृष्टिकोण का आभास होता है। यहाँ बार-बार यह भी कहा गया है कि शीतादि की प्रतीति होने पर वस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए और बाद में उसे छोड़ देना चाहिए। क्योंकि लाघवता प्रमुख उत्तरकालीन विकास का परिणाम है। इसी अध्ययन में पासत्थ (पार्श्वस्थ) साधुओं का भी उल्लेख मिलता है। उनका मूलतः सम्बन्ध पार्श्वपरम्परा के साधुओं से रहा होगा पर उनके आचार शैथिल्य को देखकर पासत्थ शब्द के प्रयोग में निन्दा का भाव झलकने लगा।

जैनधर्म की प्राचीन परम्परा तथा महावीरकालीन साहित्य की दृष्टि से इस श्रुतस्कन्ध का विशेष महत्त्व है। उस समय प्रचलित अन्य विभिन्न परम्पराओं का भी यहाँ खंडन मिलता है। हिंसा-अहिंसा और असंयम-संयम की व्याख्या में ही यह समूचा स्कन्ध समाप्त हो जाता है। इससे यह पता चलता है कि महावीर के समय हिंसा के विविध रूप प्रचलित थे और तपस्याओं में बाह्य शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया जाता था। महावीर ने इन दोनों विचारों का खंडन कर समत्व योग की स्थापना की। इसे महावीर के आचार-विचार की संक्षिप्त रूपरेखा कहा जा सकता है।

उपधान श्रुत में महावीर की दीक्षाचर्या का वर्णन मिलता है। उपधान का अर्थ है तप। महावीर की तपोसाधना पर इसमें प्रकाश डाला गया है। इसका कुछ भाग प्रक्षिप्त-सा लगता है। इसके चर्या उद्देशक में कहा गया है कि महावीर ने महाभिनिष्क्रमण के तेरह माह तक देवदूष्य वस्त्र धारण किया और उसके बाद उसका परित्याग किया। अथवा यों कहना चाहिए कि वह स्वयमेव खंड-खंड हो गया। महावीर के वस्त्र को देवदूष्य वस्त्र कहा जाना उनके प्रति श्रद्धा की एक अभिव्यक्ति मात्र लगती है। उत्तरकालीन अधिकांश महावीर चरित्र आचारांग के उपधान श्रुत पर आधारित रहे हैं। लेखक का झुकाव चमत्कारिक वृत्ति की ओर दिखाई देता है जिसे बाद में महावीर के जीवन का एक अंग-सा बना दिया गया।[20]

१८ लाघविय आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ—अष्टम अध्ययन, उद्देशक ४, सूत्र २१०।

१९ अष्टम अध्ययन, सप्तम उद्देशक, सूत्र २२०

२० विशेष देखिये—भगवान महावीर के जीवन में घटित चमत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० पुष्पलता जैन, जैन विद्या परिषद जयपुर में पठित निबन्ध, १९७५।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका के रूप में लिया गया। प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित विषय को ही यहाँ विस्तार से व्याख्यायित किया गया है। प्रथम चार चूलिकाओं का संकलन तो यहां मिलता है, पर पाँचवीं चूलिका को पृथक रूप से निशीथ सूत्र नाम दिया गया है। आचारांग का यह भाग निश्चित ही उत्तरकालीन है। निर्युक्तिकार ने भी इसे स्थविर कृत माना है। इसकी आचार प्रक्रिया सचेलक परम्परा की ओर अधिक झुकी हुई है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा यह व्यवस्थित भी अधिक है।

महावीर के मूल उपदेश को जानने की दृष्टि से आचारांग का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। श्रमण भिक्षु के उपकरणों में यहाँ मुँह पर पट्टी जैसे किसी उपकरण का उल्लेख नहीं। पडिमा शब्द का प्रयोग भी प्रतिमा के अर्थ में दिखाई नहीं देता। बारह भावनाओं का भी छुटपुट उल्लेख हुआ है, पर स्पष्ट रूप से नहीं। अतः आचारांग भगवान महावीर के काल में प्रचलित अन्य मतवादों का सन्दर्भ देते हुए एक क्रांति दर्शन की आवश्यकता व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है और इसी भूमिका में महावीर ने जो अपना मत व्यक्त किया वह जैनधर्म का मूल रूप-सा बन गया। जैन धर्म के विकास-क्रम की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का विशेष महत्व है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन, ३४ उद्देशक, ४ चूलिका, १७९ सूत्र और ३६ गाथायें हैं। समय के अनुसार उत्तर काल में इसमें परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है। यहाँ आहार, शय्या, भाषा, पात्र, अवग्रह, मलमूत्र विसर्जन, शब्द-श्रवण, आदि सदर्भों में विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि भिक्षु को जुगुप्सित कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। वृत्तिकार ने इन जुगुप्सित कुलों में चर्मकार और दासों की गणना की है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस समय तक जैनधर्म में उच्च कुल और नीच कुल की भावना का विकास हो गया होगा।

जैन भिक्षु को सखडि (सामूहिक भोजन) कराने वाले घर से भिक्षा लेना निषिद्ध है। यदि वह यह जान ले कि वहाँ का भोजन मांस प्रधान, मत्स्य प्रधान अथवा शुष्क मांस, शुष्क मत्स्य सम्बन्धी तथा नूतन वधु-प्रवेश के अवसर पर अथवा पितृगृह में वधु के पुनः प्रवेश करने पर बनाया गया है अथवा मृतक सम्बन्धी भोजन हो या यक्षादि की यात्रा के निमित्त बनाया गया हो एवं परिजनों या मित्रों के निमित्त तैयार किया गया हो तो ऐसी सखडियों में संयमशील भिक्षु को आहार नहीं करना चाहिए। परन्तु वह यह समझे कि वहाँ जाने से हरित काय आदि जीवों की विराधना नहीं होगी और संयम की रक्षा हो सकेगी तो उस सखडी से आहार ग्रहण कर सकता है।[२१] शारीरिक दुर्बलता आदि भी अपवाद के स्थिति के सूचक हैं।

---

२१ आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, उद्देशक ४, प्रथम सूत्र

इसी उद्देशक में इस प्रकार के और भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें मांस-भक्षण की कल्पना सन्निहित है। उदाहरण के तौर पर सूत्र क्रमांक २४ में लिखा है कि यदि कोई स्थिरवासी भिक्षु अतिथि अथवा मासकल्पी भिक्षुओं से यह कहे कि अमुक ग्राम में हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। उनके यहाँ से आप दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, शहद, मद्य, मांस, जलेबी, श्रीखंड, पूड़ी आदि जो भी चाहें, भिक्षा में ले आयें तो यह उचित नहीं।[22] यहाँ खाद्य पदार्थों में शहद, मद्य और मांस का भी उल्लेख है। वृत्तिकार[23] ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि कोई भिक्षु प्रमादी हो अथवा लालची हो तो वह इन पदार्थों को ग्रहण कर भी सकता है। वर्तमान में अपवाद सूत्र के रूप में इसका व्याख्यान किया गया है, पर बेचरदास दोशी ने उसे उत्सर्ग सूत्र माना है।[24]

इसी प्रकार प्रथम अध्ययन के ही उद्देशक आचारांग सूत्र ४६ में श्रमण भिक्षु के लिए पुराने मधु और मद्य को लेने का निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य है कि वह ताजा मद्य और मधु ग्रहण कर सकता है। यह भी उत्सर्ग सूत्र होना चाहिए।

आगे के उद्देशक १०, सूत्र ५८ में यह बताया है कि यदि कहीं पर अतिथि के लिए मांस अथवा मछली पकायी जाती हो अथवा तेल में पुए तले जाते हों तो भिक्षु लालचवश लेने न जाये। पर यदि भिक्षु रोगग्रस्त है तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। इसी तरह यह भी यहाँ बताया गया है कि भिक्षु को अस्थि-बहुल मांस या कंटक-बहुल मछली ग्रहण नहीं करनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि क्या आप ऐसा मांस या मत्स्य ग्रहण करेंगे? तो भिक्षु यह उत्तर दे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और अस्थियाँ तथा कांटे न आवें इसका विशेष ध्यान रखो। इतना कहने पर भी यदि गृहस्थ अस्थि-बहुल मांस या कंटक-बहुल मत्स्य दे तो उसे लेकर एकान्त स्थान में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठकर मांस और मछली खाकर बची हुई अस्थियों और कांटों को निर्जीव स्थान में डाल दे। यहाँ भी मांस और मछली भक्षण का स्पष्ट उल्लेख है (मसग मच्छग भुच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगतमवक्कमिज्जा)। वृत्तिकार शीलांक की दृष्टि में यह विधान किसी अच्छे वैद्य के उपदेश से लूता आदि रोग के शांत करने के लिए किया गया है।

---

२२ अविय इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा गुल्लं वा तिल्लं वा महुं वा मज्जं वा मसं वा—तं नो एवं करिज्जा। वही २८।

२३ अथवा कश्चित् अति प्रमादावष्टब्धः अत्यन्तगृध्नुतया मधुमद्य मांसानि अपि आश्रयेत् अत तदुपादानम्—आचारांगवृत्ति पृ० ३०६।

२४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ११५।

किया है।[२७] आचारांग में यद्यपि तत्कालीन अन्य धर्मों से सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख मिलता है पर उनका खण्डन वहाँ दिखाई नहीं देता। सूत्रकृतांग में उनका स्पष्टतः खण्डन किया गया है और साथ ही उन्हें मिथ्या, आरम्भी, प्रमादी और विषयासक्त भी कहा गया है। इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ खण्डन-मण्डन की परम्परा को लेकर सामने आया। इसमें वाद-विवाद की शैली भी प्रतिबिम्बित हो रही है। भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति लिखी। इस पर एक चूर्णी भी मिलती है। वाहरिगणि की सहायता से शीलांक ने टीका लिखी है। हर्षकुल और साधुरंग की दीपिकायें भी मिलती हैं।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन और छब्बीस उद्देशक हैं। आचारांग में गद्यांश अधिक है पर सूत्रकृतांग में पद्यांश अधिक है। प्रथम श्रुतस्कन्ध तो प्रायः पद्यात्मक ही है। गद्यसूत्र ४ और पद्य सूत्र ६३१ है। इसके तेईस अध्ययन इस प्रकार हैं—समय, वैतालीय, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरक, वीरस्तुति, कुशील परिभाषा, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवसरण, याथातथ्य, ग्रन्थ(परिग्रह), आदान, गाथा, पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहारक परिणाम, प्रत्याख्यान, अनगारगुणकीर्तिश्रुत, आर्द्रकीय और नालन्दा। समय अध्ययन में पंचमहाभूतवाद, आत्माद्वैतवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, क्रियावाद आदि सिद्धान्तों का जैन दृष्टि से खण्डन-मण्डन किया गया है। उत्तरकालीन जैन साहित्य इन वादों के खंडन-मण्डन से भरा हुआ है। उसकी खण्डनात्मक शैली के देखने से ऐसा लगता है कि लेखकों ने सूत्रकृतांग में उठाये गये तर्कों का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने बौद्ध धर्म के क्रियावाद का खण्डन करते हुए उसकी अहिंसा की व्याख्या की और फिर उसकी कटु आलोचना की है। इससे यह पता चलता है कि तब तक बौद्ध धर्म में मांस भक्षण प्रारम्भ हो गया था और जैन धर्म उससे दूर था। महात्मा बुद्ध जैसा कारुणिक महापुरुष मांस-भक्षण की अनुमति नहीं दे सकता। त्रिपिटक जैसे ही श्रीलंका में पहुँचा कि वहाँ की संस्कृति और भौगोलिक स्थिति के अनुकूल उसमें परिवर्तन अपेक्षित हो गया। सम्भव है, संयुत्त निकाय की एतत्क कथा का आधार लेकर बौद्ध धर्म में मांस-भक्षण का प्रवेश हुआ हो। बौद्धदर्शन में मानसिक संकल्प ही हिंसा का कारण है पर जैनदर्शन मानसिक के साथ कायिक और वाचिक को भी जोड़ देता है।

वैतालीय अध्ययन में रागद्वेषादि विकारों से निर्मुक्त होने के मार्ग पर विचार किया गया है। यहीं रात्रि भोजन विरमण व्रत का भी उल्लेख है। सूत्रकृतांग के वीर स्तुति नामक अध्ययन में भी इसका निषेध किया गया है। रात्रि-भोजन निषेध का यह

---

२७ सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १८-१९।
२८ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १३५

प्राचीनतम उल्लेख है। उत्तरकाल में इस पर और अधिक जोर दिया गया और इसे अष्टमूलगुणों में भी सम्मिलित किया गया। वीर स्तुति अध्ययन में इसे महावीर का विशेष योगदान कहा गया है।

उपसर्ग अध्ययन में साधनाकाल में आगत, बाह्य और अन्तरंग उपसर्गों का विवेचन किया गया है। इसमें कुछ ऐसी गाथायें अधिक हैं जो उत्तरकालीन लगती हैं। जैसे तृतीय उद्देशक की १६-१७ वीं गाथा में कहा गया है कि साधुओं को दानादि देकर उनका उपकार करने का अधिकार गृहस्थों का है पर गृहस्थों के लिए इस प्रकार का कोई उपकार साधुओं द्वारा नहीं किया जाना चाहिए।[२९] वृत्तिकार ने इस मत को आजीविक सम्प्रदाय तथा दिगम्बर सम्प्रदाय से सबद्ध किया है। लगभग समूचे उद्देशक में इन दोनों सम्प्रदायों की अवलोचना की गयी है। अतः यह उद्देशक इस ग्रंथ में प्रथम शती के आस-पास जोड़ा गया होगा।

इसी अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में वैदिक संस्कृति में मान्य कतिपय महापुरुषों का ससम्मान उल्लेख किया गया है और उन्हें सिद्ध तथा अर्हत् बताया गया है। ऐसे महापुरुषों में नमिराज, रामगुप्त, बाहुक, नारायण, आसिल, देवल, द्वैपायन तथा पाराशर ऋषि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें रामगुप्त नाम पर विचार किया जाना आवश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैन सम्प्रदाय में भी उतने ही पूज्य हैं जितने वैदिक सम्प्रदाय में। पर उनके साथ गुप्त शब्द का प्रयोग किसी साहित्य में देखने को नहीं मिलता। ऐसा लगता है, यह रामगुप्त—समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र होना चाहिए जिसे मारकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य हस्तगत किया था। यह समय ईसा की चतुर्थ शती का अंतिम काल होना चाहिए। समुद्रगुप्त का शासन लगभग ३७५ ई० तक रहा। इसके बाद कुछ वर्षों तक रामगुप्त ने शासन किया। अतः सूत्रकृतांग का लेखन काल इसके बाद ही आना चाहिए। ऐसा लगता है कि रामगुप्त उत्तरकाल में शांतिप्रिय जैन धर्मावलम्बी रहा होगा और संभव है कि वह यतिवत् भी जीवन व्यतीत करता रहा है। सूत्रकृतांग में उसे आहार खाकर सिद्धि प्राप्त करने वाला ऋषि बताया गया है। पर जैनेतर ग्रन्थों में उसको कायर तक कहा गया है। म० प्र० से प्राप्त चन्द्रप्रभु और पुष्पदंत की मूर्तियों के पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों में भी रामगुप्त का उल्लेख आया है। अतः इससे रामगुप्त की ऐतिहासिकता भी सिद्ध हो जाती है। यह संभव है कि आध्यात्मिक साधना की ओर विशेष लक्ष्य रहने से रामगुप्त अपने प्रशासन की ओर ध्यान न दे सका हो और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसका लाभ उठाकर अपने भाई का बध कर दिया हो और राज्य सूत्र अपने हाथ में ले लिया हो।

पासत्थ सम्प्रदाय की आचारगत शिथिलता को दूर करने की दृष्टि से महावीर

---

२९ धम्मपन्नवणा जा सा सारंभा ण विसोहिआ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं पुव्वमासि पगप्पिअं॥ —सूत्र ३-३-१६

ने चातुर्याम के स्थान पर पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। वीरस्तुति अध्ययन में महावीर के इस योगदान का विशेष उल्लेख हुआ है।

'दुरिमोलरियो धम्मो' मानकर समूची स्त्रीपरिज्ञा में स्त्रियों की घनघोर निन्दा की गयी है और उन्हें वैराग्य मार्ग से पतित कराने में प्रमुख कारण माना गया है। थेरगाथा में बुद्ध के मुख से भी ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया गया। यदि महावीर और बुद्ध को नारी शक्ति का उद्धारक कहा जाय तो ये सारे उद्धरण उत्तरकालीन लगने लगते हैं; जबकि नारी को भोग्या माना जाने लगा। इसी प्रकार वीर स्तुति अध्ययन भी बाद में जोड़ा गया होगा।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्य अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें अन्य सम्प्रदायों के आचार-विचारों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें १४वां अध्ययन विशेष द्रष्टव्य है जहाँ स्याद्वाद सिद्धान्त के बीज देखे जा सकते हैं। 'ण या ऽऽसियावाय वियागरेज्जा' जैसे पद्यांश में भाषा समिति का सदर्भ है और सियावाय का निषेधात्मक रूप असियावाय शब्द स्याद्वाद से सबद्ध है।[30] इसी का विधेयात्मक रूप शब्दों में सियावाय शब्द का प्रयोग स्याद्वाद के रूप में होने लगा पर विभज्जवाय शब्द लोकव्यवहार से उठ गया। बुद्ध ने भी स्वयं को विभज्जवादी कहा है पर वहाँ भी यह शब्द अधिक समय तक स्थिर नहीं रहा।

सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध पर आधारित है। जो कुछ प्रथम श्रुतस्कंध में नहीं कहा गया उसे यहाँ कह दिया गया। वस्तुतः यह उसका व्याख्या भाग रहा है। वृत्तिकार ने भी इसे स्वीकार किया है। इसमें सात अध्ययन हैं जिनमें पाँचवां और छठवां अध्ययन छोड़कर शेष सभी अध्ययन गद्यात्मक हैं। गद्य सूत्र ८३ हैं और पद्य सूत्र ८८ हैं।

इस श्रुतस्कन्ध में विभिन्न दृष्टियों से अहिंसा की व्याख्या की गयी है। हिंसा के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बौद्धधर्म में प्रतिपादित अहिंसा से जैनधर्म की अहिंसा में वैशिष्ट्य बताया है। आर्द्रक अध्ययन में भगवान महावीर और गोशालक आदि तीर्थिकों के संबंध पर विचार किया गया है। आर्द्रक का उनसे शास्त्रार्थ भी हुआ। इसी तरह नालन्दा अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त का शास्त्रार्थ गौतम गणधर से हुआ जिससे पता चलता है कि पार्श्वापत्यीय परंपरा के अनुयायियों ने महावीर की परम्परा को सरलतापूर्वक स्वीकार नहीं किया।

३ ठाणांग (स्थानांग)

स्थानांग एक कोश है जिसे संख्यात्मक प्रणाली के दस स्थानों में विभाजित किया गया है। ये दस स्थान इक्कीस उद्देशकों में विभक्त हैं। इसमें ७८३ गद्यसूत्र

---

३० सूत्र १-१४-१९-२०

और १६६ पद्यसूत्र हैं। दिगम्बर परम्परानुसार इसमें ४२००० पद और श्वेताम्बर परम्परानुसार ७२००० पद हैं। साधारणतः कोश का निर्माण बाद में ही होता है। अतः यह अधिक सम्भव है कि स्थानांग की रचना अन्य अंगों की रचना के बाद ही हुई होगी। अभयदेव सूरि (ई० १०६३) ने इस पर टीका लिखी है। स्मरण और धारणा की सुविधा की दृष्टि से ही विषय को कोई एक क्रम देकर निबद्ध कर लिया जाता है। निबद्धकर्ता के समक्ष यह कठिनाई होती है कि वह किस परम्परा को स्वीकार करे। स्थानांग वृत्ति के अन्त में दी गई प्रशस्ति से संकलनकर्ता की इस समस्या को समझा जा सकता है।

इस अंग में वर्णित विषयसूची को देखने से ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ समय-समय पर परिवर्धित-परिवर्तित होता रहा है। उदाहरणतः सात निह्नवों का यह उल्लेख है—जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। निह्नव का तात्पर्य है—सत्य का अपलाप करने वाला। दिगम्बर सम्प्रदाय में इसका कोई उल्लेख नहीं। हम यह जानते हैं कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जामालि और तिष्यगुप्त को छोड़कर शेष निह्नवों की उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के बाद तृतीय शती से लेकर छठी-सातवीं शती तक हुई है। बाद में आठवें निह्नव के रूप में दिगम्बर (बोटिक) सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति बता दी। स्थानांग में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

इसी प्रकार यहाँ महावीर के नव गणों का उल्लेख किया गया है—गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उडुवाडितगण, विस्सवातितगण कामड्ढितगण, माणवगण और कोडितगण। इन गणों की उत्पत्ति महावीर-निर्वाण के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद तक हुई।

स्थानांग में चार प्रज्ञप्तियों का निर्देश है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति। इनमें प्रथम तीन प्रज्ञप्तियों का समावेश उपांगों में कर दिया गया। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ अनुपलब्ध है। दिगम्बर सम्प्रदाय में चारों प्रज्ञप्तियों को दृष्टिवाद के परिकर्म के अन्तर्गत रखा गया है।

स्थानांग में दश दशाग्रन्थों का उल्लेख है—कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धीदसाओ, दीहदसाओ और संखेवितदसाओ। इनमें कम्मविवागदसाओ का सम्बन्ध ग्यारहवें अंग विपाकसूत्र से है। आयारदसा छन्दसूत्रों का दशा श्रुतस्कन्ध है। उवासगदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाय दसा और पण्हावागरणदसा ये अंग ग्रन्थ हैं। शेष दसा ग्रन्थों से टीकाकार भी अपरिचित हैं। उपलब्ध दसा ग्रन्थों के जिन अध्ययनों का यहाँ नामोल्लेख मिलता है वे अध्ययन उपलब्ध नामों से भिन्न हैं।[३१]

इन असंगतियों से ऐसा लगता है कि स्थानांग के मूलरूप में यथासमय

३१ स्थानांग टीका, पृ० ४८०

परिवर्तन होता रहा है। परिवर्धन को देखते हुए इसका समय ईसा की लगभग चतुर्थ-पंचम शती निश्चित की जा सकती है।[३२]

४. समवायांग

स्थानांग की शैली में ही समवायांग की रचना हुई। इसमें सभी पदार्थों का समवाय (संग्रह) किया गया है। इसमें एक से लेकर कोटाकोटी संख्या तक की वस्तुओं का संग्रह हुआ है। दिगम्बरों के अनुसार इसमें एक लाख चौंसठ हजार पद थे पर श्वेताम्बर परम्परानुसार एक लाख चवालीस हजार पद थे। इसमें गद्यसूत्र १६० और पद्यसूत्र ६० हैं।

इस अंग ग्रन्थ की विषय सूची को देखने से पता चलता है कि इसमें महावीर निर्वाण के काफी बाद की घटनाओं को भी संकलित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ-यहाँ १०० वें सूत्र में इन्द्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण का उल्लेख है जबकि उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण के बाद हुआ। इसी प्रकार उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, ऋषि-भाषित, प्रकीर्णक, नन्दीसूत्र आदि उत्तरकालीन ग्रन्थों का उल्लेख समवायांग में हुआ है। अतः इसका भी समय ईसा की लगभग पंचम शती माना जाना चाहिए। देवर्धि गणि क्षमाश्रमण के समय तक इसमें जो भी जुड़ता गया उस सभी का संकलन समय का ध्यान रखे बिना ही कर दिया गया।

स्थानांग और समवायांग की शैली बौद्ध पालि त्रिपिटक के अंगुत्तरनिकाय तथा पुग्गलपञ्ञत्ति से मिलती-जुलती है। इसमें संकलित विषय परस्पर सम्बद्ध नहीं। संख्यात्मक दृष्टि से जो विषय जब भी ध्यान में आया, संकलन कर दिया। सामग्री इसमें बहुत है पर वह सुव्यवस्थित और यथाक्रमिक नहीं।

५. वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)

अंग ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसे भगवती सूत्र कहा गया है। अभयदेव सूरि ने वि० सं० ११२८ में इस पर टीका लिखी और दानशेखर ने लघुवृत्ति की रचना की। अभयदेव ने इसका अर्थ अनेक प्रकार से लिखा है जिससे पता चलता है कि इसका सम्बन्ध भगवान महावीर और उनके गणधरों से रहा है। इसमें गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर संकलित हुए हैं। इन प्रश्नोत्तरों की संख्या श्वेताम्बर परम्परानुसार ३६००० है पर तत्त्वार्थवार्तिक (१, २०) में यह संख्या ६०००० बतायी गयी है। शतक, अवान्तर शतक १३८ हैं जो १९२७ उद्देशकों में विभक्त है। इन शतकों में सौ का कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इसमें गद्यसूत्र ५२९३ और पद्यसूत्र ७२ हैं।

इसका प्रारम्भ अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अर्वाचीनता लिए अधिक प्रतीत होता

---

३२ वेबर—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १८, पृ० ३६६

है। इसके पूर्व के पत्रों में कोई मंगलाचरण नहीं जबकि यहाँ लेखक ने 'नमो अरिहंताणं' आदि पदों से मंगल किया, बाद में एक लिपि सूचित गाथा दी और पुनः नमो सुयस्स लिखकर ग्रन्थ प्रारम्भ किया।[11] बाद में प्रशस्ति श्रेणिक का उल्लेख करते हुए भगवान महावीर और गौतम गणधर की गुणस्तुति की गई।

इस ग्रन्थ की विषय सूची बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इसमें महावीर और पार्श्वपत्तीय परम्परा का सम्बन्ध वर्णित है। गोशालक का चरित्र कुछ अधिक विस्तार से मिलता है। उसके छः दिशाचर शिष्यों का भी उल्लेख है—शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन (टीकाकार ने इनकी गणना महावीर के पथभ्रष्ट शिष्यों में की है और चूर्णिकार ने पार्श्वस्थों में)। सर्वत्र गोशालक और आजीविक सम्प्रदाय की घनघोर निन्दा मिलती है। उसका चरित्र अत्यन्त हास्यास्पद और घृणास्पद चित्रित किया गया है। सम्भव है, यह प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुआ हो। दुर्भाग्य से आजीविक सम्प्रदाय का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता अन्यथा यह गुत्थि सुलझ सकती थी। पर इतना अवश्य है कि यह एक प्रभावक सम्प्रदाय रहा होगा। त्रिपिटक में उपलब्ध प्रसंगों से भी यही तथ्य सामने आता है।

भगवती की सूची वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विविध फल वनस्पतियों आदि के नामादि गिनाये गये हैं। उनमें आलुअ शब्द द्रष्टव्य है जो वर्तमान में प्रचलित आलू का समानार्थक लगता है।

सोलहवें और अठारहवें शतकों में वर्णित घटनाओं का सम्बन्ध मुनिसुव्रत आदि तीर्थंकरों से जोड़ा गया है और कुछ उत्तरकाल में घटित घटनाओं का भी यहाँ समावेश कर दिया गया है। उदाहरण के तौर पर यहाँ 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका सम्बन्ध यापनीय संघ से स्थापित किया जा सकता है।

हम जानते हैं कि यापनीय संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मिश्रित रूप-सा था। उसकी उत्पत्ति दर्शनसार के अनुसार द्वितीय शताब्दी के आस-पास होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें लगभग प्रथम-द्वितीय शती की घटनाएँ भी समाविष्ट हुई हैं। पर यह आश्चर्य का विषय है कि इसमें जैनेतर तापसों और परिव्राजकों का उल्लेख करते समय बौद्ध सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं। इसी प्रकार अकलंक ने 'व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकेषु' लिखकर उसके दण्डक नामक अधिकारों का उल्लेख किया है पर उपलब्ध व्याख्या प्रज्ञप्ति में इस प्रकार का कोई दण्डक नहीं मिलता। जिस सन्दर्भ में इसका उल्लेख किया गया है वह विषय २४वें शतक के बाइसवें उद्देशक के २६-२७वें प्रश्नोत्तर में अवश्य उपलब्ध होता है। सम्भव है, दण्डक में इस विषय का विवेचन और अधिक विस्तार से रहा हो।

---

११ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १८६

६ णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथांग)

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें ज्ञातों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, भगवान के समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, दीक्षा, पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक में जाना, पुनः सुकुल में उत्पन्न होना, पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति का लाभ और फिर अन्त-क्रिया कर मोक्ष की प्राप्ति इत्यादि विषयों का वर्णन है। तत्त्वार्थ वार्तिक और षट्खण्डागम के अनुसार इसमें आख्यानों और उपाख्यानों का कथन है।[३४]

णायाधम्मकहाओ में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ज्ञात श्रुतस्कन्ध है जिसमें १९ अध्ययन, १९ उद्देशक, १४७ गद्यसूत्र और ५६ पद्यसूत्र हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध धर्मकथा श्रुतस्कन्ध है जिसमें १० वर्ग, २०६ अध्ययन, १२ गद्यसूत्र और ६ पद्यसूत्र हैं। अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है।

इस ग्रन्थ में अभयकुमार, मेघकुमार, धन्य सार्थवाह, शैलक, शुक परिव्राजक आदि महापुरुषों की कथायें वर्णित हैं। इन कथाओं के पीछे एक सुन्दर भूमिका और उद्देश्य सन्निहित है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए इन कथाओं का उपयोग किया गया है। कथाओं के बीच में ही विविध विषयों से सम्बद्ध सामग्री उल्लिखित हुई है। आठवें अध्ययन में 'चीणविमिस्सवस्थघनाग' के रूप में चीन शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द णायाधम्मकहाओ को द्वितीय-तृतीय शताब्दी का निश्चित करने के लिए बाध्य करता है।

दूसरा श्रुतस्कन्ध विषय और शैली की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध से बिल्कुल भिन्न-सा लगता है। नन्दी और समवायांग के अनुसार प्रत्येक धर्मकथा में ५००-५०० आख्यायिकायें, प्रत्येक आख्यायिका में पाँच-पाँच सौ उपाख्यायिकायें और प्रत्येक उपाख्यायिका में पाँच-पाँच सौ आख्यायिका—उपाख्यायिकाएँ हैं। परन्तु वर्तमान में उपलब्ध णायाधम्मकहाओ में इतनी कथायें नहीं हैं।

७. उवासगदसा (उपासकदशांग)

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें श्रमणोपासकों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक की ऋद्धिविशेष, अपरित्याग, दीक्षा, संयम की पर्याय आदि का वर्णन है।

इसमें दस अध्ययन और दस उद्देशक हैं। समूचा सूत्र गद्यमय है। प्रत्येक अध्ययन में भगवान महावीर के एक-एक उपासक का वर्णन है। इस प्रकार दस उपासकों का यहाँ चरित्र-चित्रण मिलता है। आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालिही-

---

३४ तत्त्वार्थवार्तिक ४, २६

अनुत्तर का तात्पर्य है श्रेष्ठतम विमान। जैनधर्म में नवग्रैवेयक विमानों के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है। इस सूत्र में ऐसे ही अनुत्तरोपपातिकों की अवस्था का वर्णन मिलता है।

१० पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणांग)

इसमें स्थानांग के अनुसार दस अध्ययन हैं—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्य भाषित, महावीर भाषित, क्षौमक प्रश्न, कोमल प्रश्न, अद्दाग प्रश्न, अंगुष्ठ प्रश्न, और बाहु प्रश्न। (समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मन्त्रविद्या तथा अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि क्रियाओं से सम्बद्ध हैं। इसमें ४५ अध्ययन हैं।

तत्वार्थवार्तिक के अनुसार आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय के प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्नव्याकरण कहते हैं। उनमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है। षट्खण्डागम के अनुसार इसमें आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदिनी—इन चार कथाओं का निरूपण हुआ है। इसमें नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी वर्णन मिलता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्रश्न व्याकरण उपर्युक्त प्रश्नव्याकरण से बिलकुल भिन्न है। इसमें न तो पूर्वोल्लिखित विषय सामग्री ही है और न ४५ अध्ययन ही हैं। यहाँ तो हिंसादि पंच आस्रवों और अहिंसादि पंच संवरों का वर्णन है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उल्लिखित प्रश्नव्याकरण और उपलब्ध प्रश्नव्याकरण एक दूसरे से मेल नहीं खाते।

अभयदेव ने इस ग्रन्थ पर वृत्ति लिखी है। उन्होंने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि इस ग्रन्थ की प्राय: कूट प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। अतः उसकी अर्थ-योजना सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। अन्त में वे यह भी सहजतावश कह उठे कि जिनके पास आम्नाय नहीं है उन हमारे जैसे लोगों के लिए इस शास्त्र का अर्थ समझना कठिन है। अतः हमने यहाँ जो अर्थ दिया है, वह ठीक है, ऐसी बात नहीं है। वृत्तिकार का यह कथन स्पष्ट संकेत करता है कि परम्परागत ग्रन्थ लुप्त हो चुका था। उपलब्ध प्रतियाँ भी विश्वसनीय नहीं थीं। अभयदेव के अनुसार चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न हो, इस भय से उन्हें निकालकर उनके स्थान पर आस्रव और संवर का समावेश कर दिया गया। जो भी हो, पर यह निश्चित है कि उपलब्ध प्रश्नव्याकरण तृतीय चतुर्थ शताब्दी के आसपास संकलित किया गया होगा।

११. विवागसुय (विपाक सूत्र)

नन्दीसूत्र, तत्वार्थवार्तिक, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के अनुसार इसमें पुण्य

और पाप के विपाक का विचार किया गया है। इसमें दो अध्ययन हैं जिनमें दुःखविपाकों और सुखविपाकों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक अध्ययन के दस प्रकरण हैं। इनमें आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, कला आदि से संबद्ध सामग्री सन्निहित है। स्थानांग में दुःखविपाक के दस अध्ययनों के नाम मिलते हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अंड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौर्य, उदुम्बर, सहस्रोद्दाह-आमरक और कुमार लिच्छवी। उपलब्ध विपाक सूत्र में इन नामों से कुछ भिन्न नाम मिलते हैं। यहाँ सुखविपाक में अध्ययनों का कोई नामोल्लेख नहीं।

१२. दिट्ठिवाए (दृष्टिवाद)

दृष्टिवाद बारहवाँ अंग था जो अत्यन्त विशाल और महत्त्वपूर्ण था। इसे आज लुप्त हुआ मान लिया गया है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार इसमें ३६३ कुवादियों के मतों का निरूपणपूर्वक खण्डन है। इसमें कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन, आदि क्रियावादियों के १८० भेद हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के ८४ प्रकार हैं। शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानवादियों के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिकों के ३२ भेद हैं।

दृष्टिवाद को नन्दीसूत्र में भी समस्त नय दृष्टियों का कथन करने वाला श्रुत कहा है। तत्त्वार्थवार्तिक के समान इसमें भी इसके पाँच भेद बताये गये हैं—परिकर्म, सूत्र, अनुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म सात प्रकार का है—सिद्धश्रेणिका, मनुष्य, पृष्ट, अवगाह, उपसम्पादन, विप्रजहत् और च्युताच्युतश्रेणिका। इन परिकर्मों के पुनः भेद किये गये हैं। सूत्र के २२ भेद हैं—ऋजु, परिणतापरिणत, बहुभंगिक, विजयचरित, अनन्तर, परम्पर, आसान, संयूथ, सम्भिन्न, यथावाद, स्वस्तिकावर्त, नन्दावर्त, बहुल, पृष्टापृष्ट, व्यावर्त, एवंभूत, द्विकावर्त, वर्तमानपद, समभिरूढ, सर्वतोभद्र, प्रशिष्य और दुष्प्रतिग्रह। अनुयोग के दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। चूलिका के पाँच भेद हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। प्रथम चार पूर्वों में चूलिकाएँ हैं, शेष में नहीं। पूर्व के १४ भेद हैं—

१ उत्पादपूर्व—इसमें जीव पुद्गलादि का कहाँ कैसा उत्पाद होता है, इस सबका वर्णन है। इसमें एक करोड़ पद हैं।

२ अग्रायणीय पूर्व—क्रियावाद आदि की प्रक्रिया और स्वसमय का विषय निर्देश है, सुनय और दुर्नय का कथन है। इसमें ९६ लाख पद हैं।

३ वीर्यानुवादपूर्व—छद्मस्थ और केवली की शक्ति, सुरेन्द्र-असुरेन्द्र आदि की ऋद्धियाँ, नरेन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि की सामर्थ्य, द्रव्यों के लक्षण आदि का निरूपण है। इसमें ७० लाख पद हैं।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—पाँचों अस्तिकायों का और नयों का अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है। इसके ६० लाख पद हैं।

५. ज्ञानप्रवाद पूर्व—पाँचों ज्ञानों और इन्द्रियों का विभाग आदि निरूपित है। एक कम एक कोटि इसके पद हैं।

६. सत्यप्रवादपूर्व—वचन गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन-प्रयोग, बारह प्रकार की भाषायें, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन है। इसके एक करोड़ छः पद हैं।

७. आत्मप्रवादपूर्व—आत्मद्रव्य का और छः जीवनिकायों का अस्तिनास्ति आदि विविध भंगों से निरूपण है। इसमें २६ कोटि पद हैं।

८ कर्मप्रवादपूर्व—कर्मों की बन्ध, उदय, उपशम आदि दशाओं की और स्थिति आदि का वर्णन है। इसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

६. प्रत्याख्यानपूर्व—व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि विशुद्धि के उपक्रमों का तथा मुनित्व पद के कारणों का और परिमित या अपरिमित द्रव्य और भावों के त्याग का कथन करता है। इसके ८४ लाख पद हैं।

१०. विद्यानुवादपूर्व—समस्त विद्याओं का, आठ महानिमित्तों का तद्विषयक रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवेचन है। इसके एक करोड़ दस लाख पद हैं।

११. कल्याणप्रवादपूर्व—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों के गमन, उत्पत्ति, गति का विपरीत फल, शकुनशास्त्र, तथा अर्हन्त, बलदेव आदि महापुरुषों के महाकल्याणकों का कथन करता है। इसके २६ करोड़ पद हैं।

१२. प्राणावायपूर्व—आयुर्वेद के कार्य चिकित्सा आदि आठ अंगों का, भूति-कर्म का, जांगुलि प्रक्रम का और प्राणायाम का विस्तार से कथन है। इसके एक करोड़ ५६ लाख पद हैं।

१३. क्रियाविशालपूर्व—लेख आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्प का, काव्य के गुण-दोषों का, छन्द रचनाओं का तथा क्रिया के फल के भोक्ताओं का कथन करता है। इसके ६ करोड़ पद हैं।

१४. लोकबिन्दुसार—आठ व्यवहार, चार बीज राशि, परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुत सम्पत्ति का विवरण है। इसके साढ़े बारह करोड़ पद हैं।[३५]

दृष्टिवाद की यह विशालता समस्त आगम ग्रन्थों को समाहित किये हुए है। इसमें चौदह पूर्वों को अधिक महत्त्व दिया गया। दिगम्बर परम्परा में ग्यारह अथवा बारह अंगों और चौदह पूर्वों की विशिष्ट मान्यता द्रष्टव्य है। श्वेताम्बर परम्परा में

३५ आचार दिनकर में उद्धृत; जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ५५२

महिला वर्ग को दृष्टिवाद के अध्ययन का अधिकार नहीं दिया गया। यह मा दृष्टिवाद की विशालता तथा गहनता का ही कारण रहा होगा।

प्रश्न यह उठता है कि इतना विशालकाय दृष्टिवाद कहाँ गया ? हम पीछे चुके हैं कि किस प्रकार से अगों और पूर्वों का ज्ञान विलुप्त होता गया। दि परम्परा के अनुसार पूर्वों का खण्डशः ज्ञान पुष्पदन्त और भूतबलि ने खण्डागम में निबद्ध किया और श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वा एक हजार वर्ष बाद पूर्वों का लोप हुआ और पूर्वों के साथ ही दृष्टिवाद का भी हो गया।

दृष्टिवाद का उल्लेख अंगों में समवायांग[३६] में मिलता है और उपांगों में पालिक में चउदसपुव्वी और दुवालसगिनी तथा प्रज्ञापना में दिट्ठीवाय और पु शब्दों का उल्लेख हुआ है। अंगों के समान उपांगों की भी संख्या बारह बताई ग नन्दीसूत्र आदि में दृष्टिवाद की एक विस्तृत सूची मिलती ही है। अतः उस सम दृष्टिवाद किसी न किसी रूप में रहा ही होगा। उत्तरकाल में धीरे-धीरे वह लु गया। लुप्त होने का कारण यह हो सकता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ दार्शनिक मतमत से भरा हुआ था। दृष्टिवाद की गणना गमिकश्रुत में की गई है। गमिकश्रु तात्पर्य है—गणधरों द्वारा निर्मित अथवा भंग और गणित आदि से परिपूर्ण इसलिए उसका कठिन होना स्वाभाविक है, पर दृष्टिवाद के लोप होने में यह युक्तिसंगत-सा नहीं लगता। दृष्टिवाद का लोप क्यों और कैसे हुआ, यह पहेली भी अनुबूझी-सी बनी हुई है।

उपांगों आदि का समावेश अंग बाह्य ग्रन्थों में होता है। उनके का उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं। स्वाध्यायकाल में जिनके पठन-पाठन का कोई समय न हो वे उत्कालिक हैं। इससे स्पष्ट है कि दृष्टिवाद को कालिक श्रुत नहीं गया।[३७]

षट्खण्डागम[३८] में वर्गणा नामक खण्ड में श्रुतज्ञान के बीस भेद बताये हैं—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातस प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत प्र समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास और पूर्व, पूर्वसमास। वीरसेन ने और अंगबाह्य ग्रन्थों को अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमास में समाविष्ट किया

जैसा हम पीछे देख चुके हैं व्यवहार आदि सूत्र के अनुसार अंगों की उ

३६ दुवालसंगेगणिपिडगे···दिट्ठीवाय, पृ० १३६
३७ षट्खण्डागम, भाग १, पृ० २६०
३८ वही, भाग १३, पृ० २३६

पूर्वों से मानी गई है। अंगों के अतिरिक्त अंगबाह्य ग्रन्थ हैं जिनकी रचना अंगों के आधार से हुई है। उनकी संख्या चौदह है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्प्य व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा निषिद्धिका। दिगम्बर परम्परा इन अंगबाह्य ग्रन्थों को भी लुप्त हुआ मानती है परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उनमें से अधिकांश ग्रन्थों को सुरक्षित माना गया है।

उपर्युक्त बारह अंगों के बारह उपांग माने जाते हैं—उववाइय, रायपसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सुरियपण्णत्ति, जम्बूदीव पण्णत्ति, चंदपण्णत्ति, निरयावलिया, कप्पावडिंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूला और वण्हिदसाओ। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उपांगों के क्रम का अंगों के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। लगभग १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में उपांगों का वर्णन भी नहीं आता। ये उपांग सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। आठवें उपांग से लेकर बारहवें उपांग तक को समग्र रूप से निरयावलियाओ भी कहा गया है।

उपांगों के बाद चार मूलसूत्र, छः छेदसूत्र और दस प्रकीर्णक ग्रन्थ भी मिलते हैं। उत्तरज्झयण, आवस्सय, दसवेयालिय और पिण्डनिज्जुत्ति या ओघनिज्जुत्ति ये चार मूलसूत्र हैं। इनका भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। छेदसूत्रों में आचार-विचार का वर्णन है। उनकी संख्या छः है—दसासुयक्खन्ध, बृहत्कल्प, ववहार, निसीह, महानिसीह और जीतकल्प। प्रकीर्णक ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचित हैं। वलभी वाचना के समय निम्नलिखित दस ग्रन्थों को ही प्रकीर्णकों में समाविष्ट किया गया—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपइण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारक, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदथुई, और मरणसमाहि। नन्दी और अनुयोगद्वार की गणना चूलिका सूत्रों में की गई। ये चूलिकासूत्र ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में माने गये हैं।

विस्तार के भय से इन ग्रन्थों की समीक्षा नहीं की जा सकती। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन ग्रन्थों में अंग ग्रन्थों की भी अपेक्षा उत्तरकालीन घटनाओं का कहीं अधिक समावेश है। उनमें कितने ग्रन्थों को और उनके कितने अंशों को महावीरकालीन माना जाय, यह कह सकना सरल नहीं। साधारणतः अंग ग्रन्थों को महावीरकालीन कहा जा सकता है।

महावीरकालीन साहित्य की दृष्टि से उपनिषद् और पालि त्रिपिटक साहित्य को भी उद्धृत किया जा सकता है पर हमने यहाँ मात्र जैन साहित्य को इस काल-सीमा के अन्तर्गत रखा है। उपनिषद् और त्रिपिटक—दोनों जैन साहित्य से प्रभावित दिखाई देते हैं। उनमें परस्पर आदान-प्रदान शैली और विषय आदि की दृष्टि से हुआ है। विषय की दृष्टि से उपनिषद् महावीर के सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित लगते हैं। श्रमण विचारधारा ने वैदिक साहित्य में उपनिषद साहित्य को जन्म दिया, यदि यह

कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। त्रिपिटक और आगम में तो भाषा, विषय और शैली, तीनों की दृष्टि से काफी समानता दिखाई देती है।[३९]

महावीरकालीन साहित्य आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि कला के क्षेत्र में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान है। समवायांग[४०] मे अठारह लिपियों का उल्लेख है—१-बंभी (ब्राह्मी) २-जवणी लिवी (यावनी), ३-दोसाउवरिआ (दोषोपरिका), ४-खरोट्ठिआ (खरोष्ठी), ५—खरसाविआ (खरश्राविका), ६—पहाराइआ (पकारादिका), ७—उच्चतरिआ (उच्चतरिका), ८-अक्खरपुट्ठिया (अक्षरपृष्ठिका), ९—भोगवयआ (भोगवतिका), १०—वेणतिया (वैणयिका), ११—णिण्हइया (निह्नविका), १२—अंकलिवी (अंकलिपि), १३—गणिअलिवी (गणितलिपि), १४—गधव्वलिवी (गधर्वलिपि) १५-आदंसलिवी (आदर्शलिपि), १६-माहेसरीलिवी (माहेश्वरीलिपि), १७-दामिलिवी (द्राविडलिपि) और १८—बोलिदिलिवी (बोलिदिलिपि)। यहाँ ऐसा लगता है कि ये सभी स्वतन्त्र लिपियाँ नहीं बल्कि ब्राह्मी के ही लेखन प्रकार हैं (बंभीए ण लिवीए अट्ठारसविहे लेखविहाणे)।

जैन साहित्य मे ब्राह्मी को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। कहा जाता है, आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को यह लिपि सिखायी थी। उसी के नाम पर इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ गया। वृत्तिकार के समय तक ये लिपियाँ अदृश्य हो चुकी होंगी। उन्होंने अपने विभिन्न रूप धारण कर लिए होंगे। यही कारण है कि अभयदेव को यह लिखना पड़ा—एतत्स्वरूप न दृष्ट, इति न दर्शितम्।

आगे ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृकाक्षरो (मूलाक्षरो) का उल्लेख हुआ है। इन अक्षरों मे ऋ, ॠ, लृ, लॄ, और ळ ये पाँच अक्षर सम्मिलित नहीं हैं। ४६ अक्षर इस प्रकार हो सकते हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये १२ स्वर, क से लेकर म तक के २५ स्पर्शाक्षर, य, र, ल, और व ये ४ अन्तस्थ, श, ष, स और ह ये ४ उष्माक्षर तथा १ क्ष=१२+२५+४+४+१=४६।

समवायांग मे भी ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है—लेख, गणित, रूप, नाट्य, गीत, वाद्य, स्वरविज्ञान, पुस्करविज्ञान, तालविज्ञान, द्यूत, वार्ताविज्ञान, सुरक्षाविज्ञान, पासाक्रीडा, कुम्भकला, अन्नविधि, पानविधि, वस्त्रविधि, शयनविधि, छन्दरचना, पहेलिका, मागधिका, गाथा रचना, श्लोक रचना, गन्धयुक्ति, मधुसिक्थ, आभरणविधि तरुणी प्रतिकर्म, स्त्री लक्षण, पुरुषलक्षण, हयलक्षण, गजलक्षण, गोलक्षण, कुक्कुट लक्षण, मेढ़लक्षण, चक्रलक्षण, छत्रलक्षण, दण्डलक्षण, असिलक्षण, मणिलक्षण, काकिणीलक्षण, चर्मलक्षण, चन्द्रलक्षण, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित, सौभाग्य-

---

३९ विस्तार से देखिए लेखक का ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature प्रथम अध्याय।

४० समवायांग, सूत्र १८.

कर, दौर्भाग्यकर, विद्याविज्ञान, मंत्रविज्ञान, रहस्यविज्ञान, वस्तुविज्ञान, सैन्य विज्ञान, युद्धविद्या, व्यूह रचना, प्रतिव्यूह रचना, स्कंधावार विज्ञान, नगर निर्माणकला, वस्तु-प्रमाण, स्कंधावार-निर्माणकला, वास्तुविधि, नगर निवास, ईसदर्प, असिकला, अश्व-शिक्षा, हस्ती शिक्षा, धनुर्वेद, हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक, बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध-नियुद्ध, युद्धातियुद्ध, सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्तखेड, धर्मखेड, चर्मखेड, पत्रछेदन कला, कंटक छेदन कला, सजीविनी विद्या और शकुनरुत।[४१]

इन कलाओं के सन्दर्भ में आगमों में छुटपुट उल्लेख पृथक रूप से भी मिलते हैं। नायाधम्मकहाओ में धनुर्वेद और संगीत का उल्लेख मिलता है।[४२] यहाँ संगीत चार प्रकार का है—वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनेय। इसमें वीणा, ताल, तालमय और वादित्र को प्रमुख स्थान दिया गया है। स्वर सात प्रकार के हैं —षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद। इन स्वरों के अग्रजिह्वा, उर, कंठोद्गमन, मध्यजिह्वा, नासा, दन्तोष्ठ, और मूर्धा ये क्रमशः सात स्वर स्थान हैं। मृदंग, गोमुही, शंख, झल्लरी, गोधिका, आडम्बर और महाभेरी इन वाद्यों में ये स्वर निसृत होते हैं। इन स्वरों के गुण-दोष आदि पर भी यहाँ विचार किया गया है।

स्थानांग में अनेक वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है जैसे—तत, वितत, घन और शुषिर।[४३] इसी प्रकार चार प्रकार के नृत्य, संगीत, पाल्य, अलंकार और अभिनय का भी उल्लेख है।[४४]

चित्रकला के संदर्भ में नायाधम्मकहाओ के प्रसंग महत्वपूर्ण हैं इसमें एक चित्रकार ऐसा था जो द्विपद, चतुष्पद और अपद (वृक्षादि) के एक भाग को देखकर शेष भाग को चित्रित कर दिया करता था। ये चित्रकार राजा की चित्रसभा को सजाया करते थे जो काष्ठकर्म, पोत्थकर्म आदि से सजाई जाती थी।[४५] राजगृह आदि नगरों में इस प्रकार की सुन्दर चित्रसभाएँ थीं।

मूर्तिकला और स्थापत्यकला की दृष्टि से भी जैनागम साहित्य उल्लेखनीय है। नायाधम्मकहाओ में एक सुवर्णमयी प्रतिमा का उल्लेख है जिसे मणिपीठिका पर स्थापित किया गया था और जो यौवन और लावण्य में बिलकुल मल्लिकुमारी जैसी लगती थी।[४६]

---

४१ वही, सूत्र ७२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्ष २, सूत्र ३०
४२ नायाधम्मकहाओ ८, पृ० १०६
४३ स्थानांग ४, पृ० २७१
४४ वही ४, पृ० ३७४
४५ वहीं, १३, पृ० १४२
४६ वही, ८, पृ० ९५

इसी प्रकार स्थापत्यकला भी उस समय समृद्ध थी। नगर प्रकार और जिन रचना के वर्णनों में उसे देखा जा सकता है।[४७] चैत्यों, स्तूपों और भाण्डागारों के भी सुन्दर वर्णन मिलते हैं। जिससे तत्कालीन वास्तुकला और अभिनय कला के दर्शन किये जा सकते हैं।

यहाँ हमने कलाओं के थोड़े से ही प्रसंगों को स्पर्श किया है। यदि उद्यान, वैद्य, मृग और प्रतीकित सूत्रों को भी यहाँ समाविष्ट कर लें तो एक बहुत सुन्दर सामग्री एकत्रित हो सकती है।[४८]

☆

---

४७ वही १, पृ० २२

४८ विशेष देखिये, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र जैन, पाँचवाँ अध्याय।

प्रमुख उपासक और उपासिकायें

१. राजन्य वर्ग
- १ सम्राट श्रेणिक अथवा बिम्बिसार
- २ अजातशत्रु कूणिक
- ३ राजा चेटक
- ४ राजा उदयन
- ५ राजा उदायन अथवा उद्रायण
- ६ राजकुमार जीवन्धर
- ७ राजकुमार वारिषेण
- ८ राजकुमार मेघ
- ९ राजकुमार अभय
- १० चण्डप्रद्योत
- ११ दशार्णभद्र
- १२ दधिवाहन
- १३ गागलि

२. उपासक वर्ग
- १ आनन्द
- २ सिंह सेनापति
- ३ गृहपति उपालि
- ४ अभय राजकुमार
- ५ असिबन्धकपुत्र ग्रामणी
- ६ वप्प श्रावक
- ७ मृगार श्रेष्ठी
- ८ सच्चक निगण्ठपुत्त
- ९ आराड कालाम

३. उपासिका वर्ग
- १ चन्दना
- २ मृगावती
- ३ कमलावती
- ४ श्रेणिक परिवार

कहा जाता है कि चण्डप्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को गन्धर्व विद्या सिखाने के लिए उदयन को कैद किया। बाद में उदयन और वासवदत्ता का प्रणय सम्बन्ध भी हुआ। चण्डप्रद्योत तथा उदयन के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख साहित्य में मिलता है।

उदयन और वासवदत्ता की प्रणय गाथा ने साहित्य सर्जकों को बड़ी प्रेरणा दी। फलस्वरूप भास का यौगन्धरायण, हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका तथा शूद्रक का वत्सचरित अधिक लोकप्रिय हुआ है। इनके अतिरिक्त वीणावासवदत्ता, तापस वत्सराज आदि कृतियाँ भी साहित्यिक क्षेत्र में फलीभूत हुई हैं।

राजा उदायन अथवा उद्रायण

उदायन सिन्धु-सौवीर का महाराजा था। उसकी राजधानी वीतिभय एक सुन्दर नगरी थी। राजा उदायन महावीर का कट्टर अनुयायी था। भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर उसने राज्य त्यागने का निश्चय किया। उसने सोचा—जो राज्य स्वयं को अनर्थकारी है उसे अपने पुत्र अभीचकुमार को कैसे दिया जाय? यह विचार कर उसने अपना राज्य अपने भानजे केशिकुमार को सौंपकर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। बाद में केशिकुमार ने मिथ्याधारणा से मुनि अवस्था में ही उसका वध करा दिया।

राजकुमार जीवन्धर

दक्षिणापथवर्ती हेमांगद नामक देश के महाराजा सत्यन्धर के सुपुत्र कुमार जीवन्धर ने भी भगवान महावीर के उपदेशों का अनुकरण कर आत्मकल्याण किया। वे एक वीर योद्धा और कुशल प्रशासक थे। काष्ठांगार जैसे कृतघ्न अमात्य को उन्होंने जो पाठ दिया वह अनुकरणीय है। एक दिन उन्होंने बन्दरों के दो झुण्डों को परस्पर लड़ते हुए देखा। उनके इस चाण्डाली कृत्य को देखकर जीवन्धर को यह अनुभव हुआ कि जीव कितना स्वार्थी है। अपने स्वार्थ के कारण वह कितना पतित हो सकता है? इन विचारों में वे इतनी गहराई तक पहुँचे कि उनके चिन्तन में वीतरागता उमड़ आई। सौभाग्यवश महावीर भी वहाँ समय आ पहुँचे। जीवन्धर ने इस स्वर्ण अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया और उन्होंने भगवान से श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली। कालान्तर में उन्होंने विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया।

राजकुमार वारिषेण

वारिषेण चेलना से उत्पन्न श्रेणिक का पुत्र था। प्रारम्भ से ही वह धार्मिक प्रकृति का था। व्रत-उपवास करने में उसका मन अधिक लगता था। एक बार उसने चतुर्दशी का प्रोषधोपवास किया और रात्रि में धर्म ध्यान के लिए श्मशान में बैठकर आत्मचिन्तन करने लगा।

राजगृह में ही एक विद्युत नामक चोर रहता था। वह किसी वेश्या में अनुरक्त

श्रेणिक जीवन के अन्त तक भगवान महावीर का अनुयायी बना रहा। उसने सांस्कृतिक स्थानों के निर्माण में भी यथेष्ट योगदान दिया। उसके पुत्र अजातशत्रु कूणिक ने उसे जीवन के अन्तिम समय में कारागार में बन्द कर दिया था और वहीं उसकी मृत्यु भी हुई थी। राजा श्रेणिक के विषय में कहा गया है कि वह भविष्य में जैन तीर्थंकर होगा। अपने जीवनकाल में श्रेणिक ने प्रव्रज्या लेने वालों को सहयोग भी दिया।[1]

अजातशत्रु कूणिक

अजातशत्रु कूणिक जैन-बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। वह चेलना का पुत्र था। चेलना के ही प्रभाव से वह भगवान महावीर का भक्त हुआ। महावीर के चम्पा पहुंचने पर उसने उनका हृदय से स्वागत किया। प्रकृति से वह क्रोधी था। अपने पिता बिम्बिसार को उसने दारुण दुःख दिया था। बिम्बिसार ने अपने पुत्र हल्ल-विहल्ल को जो हाथी और हार दिये थे उनके कारण उसका युद्ध राजा चेटक से हुआ। युद्ध में चेटक के तीव्र बाणों से कूणिक के नौ भाई और अपार सेना नष्ट हो गई। तब कूणिक ने महाशिलाकटक और रथमूसल नामक प्रचण्ड अस्त्रों से वैशाली को धरा-शायी कर दिया। उसने राज्य लोभ के कारण अनेक युद्ध किये। अपने पिता बिम्बि-सार को कारावास और वधदण्ड जैसे कुकृत्य भी उसके सिर पर बंधे हैं। महावीर की वाणी से प्रभावित होकर उसने इन्द्रभूति गौतम के पास श्रावक व्रत ग्रहण किये।[2]

राजा चेटक

चेटक वैशाली के अधिपति थे। उनकी सात पुत्रियां थीं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलना। उनमें से सुज्येष्ठा ने तो कौमार्यावस्था में ही महावीर से दीक्षा ले ली थी। शेष पुत्रियों का विवाह सम्बन्ध क्रमशः उस समय के प्रख्यात राजा उदायन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दिवर्धन और श्रेणिक बिम्बिसार के साथ हुआ था। महावीर स्वामी की माता त्रिशला दिगम्बर परम्परा-नुसार चेटक की पुत्री और श्वेताम्बर परम्परानुसार चेटक की बहिन थी। इसलिए राजा चेटक का भगवान महावीर की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। आवश्यक चूर्णी में उसे व्रतधारी श्रावकों में गिना गया है। चेलना से उत्पन्न कूणिक से उनका घनघोर युद्ध हुआ था जिसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं।

राजा उदयन

कौशाम्बी का राजा उदयन उद्रायण से भिन्न व्यक्तित्व था। उदयन सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक का पुत्र था। उसकी माता चेटक की पुत्री मृगावती देवी थी। वह भी भगवान महावीर का परम भक्त था। उदयन गन्धर्व विद्या में निष्णात था।

१ आवश्यक चूर्णि; उत्तर० पृ० १६६
२ उवासगदसाओ, पृ० २५

कहा जाता है कि चण्डप्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को गन्धर्व विद्या सिखाने के लिए उदयन को बंद किया। बाद में उदयन और वासवदत्ता का प्रणय सम्बन्ध भी हुआ। चण्डप्रद्योत तथा उदयन के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख साहित्य में मिलता है।

उदयन और वासवदत्ता की प्रणय गाथा ने साहित्य सर्जकों को बड़ी प्रेरणा दी। सम्भवतः भास का यौगन्धरायण, हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका तथा शूद्रक का वत्सचरित अधिक लोकप्रिय हुआ है। इनके अतिरिक्त वीणावासवदत्ता, तापस वत्सराज आदि कृतियाँ भी साहित्यिक क्षेत्र में चर्चीभूत हुई है।

राजा उदायन अथवा उद्रायण

उद्रायन सिन्धु-सौवीर का महाराजा था। उसकी राजधानी वीतिभय एक सुन्दर नगरी थी। राजा उदायन महावीर का कट्टर अनुयायी था। भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर उसने राज्य त्यागने का निश्चय किया। उसने सोचा—जो राज्य स्वयं को अनर्थकारी है उसे अपने पुत्र अभीचकुमार को कैसे दिया जाय ? यह विचार कर उसने अपना राज्य अपने भानजे केशिकुमार को सौंपकर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। बाद में केशिकुमार ने मिथ्याधारणा से मुनि अवस्था में ही उसका वध करा दिया।

राजकुमार जीवन्धर

दक्षिणापथवर्ती हेमांगद नामक देश के महाराजा सत्यन्धर के सुपुत्र कुमार जीवन्धर ने भी भगवान महावीर के उपदेशों का अनुकरण कर आत्मकल्याण किया। वे एक वीर योद्धा और कुशल प्रशासक थे। काष्ठांगार जैसे कृतघ्न अमात्य को उन्होंने जो पाठ दिया वह अनुकरणीय है। एक दिन उन्होंने बन्दरों के दो झुण्डों को परस्पर लड़ते हुए देखा। उनके इस पाशवी कृत्य को देखकर जीवन्धर को यह अनुभव हुआ कि जीव कितना स्वार्थी है। अपने स्वार्थ के कारण वह कितना पतित हो सकता है ? इन विचारों में वे इतनी गहराई तक पहुँचे कि उनके चिन्तन में वीतरागता उमड़ आई। सौभाग्यवश महावीर भी वहाँ समय आ पहुँचे। जीवन्धर ने इस स्वर्ण अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया और उन्होंने भगवान से श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली। कालान्तर में उन्होंने विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया।

राजकुमार वारिषेण

वारिषेण चेलना से उत्पन्न श्रेणिक का पुत्र था। प्रारम्भ से ही वह धार्मिक प्रकृति का था। व्रत-उपवास करने में उसका मन अधिक लगता था। एक बार उसने चतुर्दशी का प्रोषधोपवास किया और रात्रि में धर्म ध्यान के लिए श्मशान में बैठकर आत्मचिन्तन करने लगा।

राजगृह में ही एक विद्युत नामक चोर रहता था। वह किसी वेश्या में अनुरक्त

[illegible] अपना [illegible] कर दिया। [illegible] वारिषेण को पकड़ लिया।

श्रेणिक को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि वारिषेण यह [illegible] होगा। पर प्रमाण [illegible] के आगे वह लाचार हो गया। फलतः उसने वारिषेण को मृत्यु-दण्ड घोषित कर दिया। आश्चर्य की बात थी कि जब चाण्डाल उसे प्राणदण्ड देने को था, उसके हाथ [illegible] हो गये। श्रेणिक इस घटना को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने कहा कि वह वारिषेण को [illegible] अच्छी तरह जानता था पर [illegible] था। श्रेणिक के अनेक बार कहने पर भी वारिषेण का मन घर की ओर नहीं मुड़ा। वह संसार के स्वभाव को समझ चुका था। स्वार्थपरता को देख चुका था। इसलिए उसने महावीर से दीक्षा ग्रहण की और कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया।

राजकुमार मेघ

मेघकुमार भी श्रेणिक का पुत्र था। वह विलासी प्रकृति का था। एक बार महावीर राजगृह में समय विराजमान थे। भक्त उनका दर्शन करने आ रहे थे। मेघकुमार भी कौतूहलवश वहाँ चला गया। उस समय महावीर भगवान जीव और कर्म के स्वभाव पर प्रवचन दे रहे थे और समझा रहे थे कि यदि व्यक्ति को मोह के बन्धन से बचना हो तो वह संयम की आराधना करे। मेघकुमार विलासी अवश्य था, पर उसका मन धर्म के विपरीत नहीं था। महावीर की बात अब उसे अधिक स्पष्ट हो चुकी थी। वह माता-पिता की आज्ञा से घर छोड़कर भिक्षु बन गया। पर भिक्षु हो जाने पर भी उसके मन से राजकुमारत्व की अहम्मन्यता नहीं जा सकी। भगवान महावीर ने उसका यह भाव परखा और उसे सन्मार्ग पर लगाया। उसको उन्होंने बताया कि पूर्वभव में वह हाथी के पर्याय में था और खरगोश को बचाने के लिए किस प्रकार वह तीन दिन तक लगातार तीन पैर पर खड़ा रहा। अन्त में समभावपूर्वक देह त्यागकर उसने राजकुमार का शरीर धारण किया और अब भोग ऐश्वर्य त्यागकर श्रमण बना है।

मेघकुमार का मन यह सब सुनकर प्रशान्त हो गया और निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर उसने निर्वाण प्राप्त किया।[३]

राजकुमार अभय

राजकुमार अभय रानी नन्दा से उत्पन्न महाराज श्रेणिक का पुत्र था। वह कुशल राजनीतिज्ञ, विद्वान, प्रशासक, विनीत और आज्ञाकारी था। इसलिए श्रेणिक ने

---

३ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ६, ४०८–४३६

उसे अपना प्रधानमन्त्री बनाया था। अपनी नीति-कुशलता से उसने एकाधिक बार श्रेणिक के प्रकोप से अपने समूचे परिवार को बचाया। भगवान महावीर का यह परम भक्त था।

मज्झिम निकाय में एक अभय राजकुमार सुत्त है जिसमें उसे मूलतः निगण्ठनातपुत्त का अनुयायी बताया गया है। जैन साहित्य में उसके अनेक मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख है। चण्डप्रद्योत के प्रचण्ड आक्रमण को उसने बड़े कौशल से बचा लिया था।

अपने पूर्वभव महावीर स्वामी से जानकर अभय ने धर्म धारण किया और दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त किया।

चण्डप्रद्योत

चण्डप्रद्योत उज्जैनी का राजा था। स्वभाव से वह अत्यन्त क्रोधी था। गोपालक और पालक उसके दो पुत्र थे। चण्डप्रद्योत आजीवन राजाओं से संघर्ष करता रहा। उसने राजगृह पर भी आक्रमण किया। पर राजकुमार अभय ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक उसे लौटा दिया। चंडप्रद्योत को जब यह बात समझ में आयी तो उसने छल से अभय राजकुमार को बन्दी बना लिया। अभय की दूरदर्शिता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर चंडप्रद्योत ने उसे मुक्त कर दिया। उधर मुक्त होकर अभय ने भी छल से एक बार चंडप्रद्योत को पकड़ा और राजगृह ले आया। श्रेणिक जैसे ही उसे मारने दौड़े, अभय ने उसे अभयदान दिया।

चंडप्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को गन्धर्व विद्या सिखाने के लिए कौशाम्बी के राजा उदयन को पकड़ा। बाद में उदयन और वासवदत्ता परिणय में बंध गये। उदयन ने भी प्रद्योत को बन्दी बनाया और उसे छोड़ दिया।

चंडप्रद्योत के इस संघर्षशील स्वभाव के बावजूद वह महावीर भगवान का बड़ा भक्त था। उदयन के कारण उसकी श्रद्धा जाग्रत हुई थी और अन्त समय तक बनी रही थी।

दशार्णभद्र

दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। दशार्णपुर की पहचान आजकल साधारणतः विदिशा (भेलसा, म० प्र०) से की जाती है। उसी के निकट दशार्णकूट पर भगवान महावीर का समवशरण पहुँचा था। दशार्णपुर के वेसनगर, रथ्यावर्त आदि नाम भी साहित्य में मिलते हैं। अशोक ने वहाँ राज्य किया है। समीपस्थ उदयगिरि की गुफाएँ जैन कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यहाँ का राजा दशार्णभद्र भगवान महावीर का भक्त अनुयायी था।

दधिवाहन

दधिवाहन चम्पा का राजा था। उसकी पत्नी पद्मावती महाराजा चेटक की पुत्री थी। दधिवाहन भी महावीर का अनुयायी था। उनकी प्रथम साध्वी चन्दना

का उत्तर एकान्तिक रूप से नहीं दिया जा सकता। अन्त में कहा गया है कि अभय बुद्ध का उपासक हो गया।[६] अन्यत्र एक स्थान पर निगंठनातपुत्त की सर्वज्ञता के विषय में भी बुद्ध और अभय के बीच बात हुई थी।[७]

असिबन्धकपुत्र ग्रामणी

नालन्दा में एक बार बुद्ध ने असिबन्धकपुत्र ग्रामणी ने पूछा—निगंठनातपुत्त अपने शिष्यों को क्या उपदेश देते हैं? ग्रामणी ने कहा—'प्राणातिपातादि नहीं करना चाहिए, यही उनका प्रमुख उपदेश है। जो हिंसादिक पापों को जितना अधिक करता है उसकी वैसी ही गति होती है।' तब बुद्ध ने कहा कि 'व्यक्ति जीवन में हिंसा अधिक करता है इसलिए उसकी दुर्गति ही अधिक होगी। तुम भी दुर्गति पाओगे। अन्त में ग्रामणी बुद्ध का अनुयायी हो जाता है।[८] अन्यत्र एक स्थान पर कहा गया है कि निगंठनातपुत्त ने बुद्ध से वाद-विवाद करने के लिए ग्रामणी को भेजा। ग्रामणी ने बुद्ध से उत्तर पाकर उनका अनुयायी हो जाना स्वीकार कर लिया।[९]

वप्प श्रावक

कपिलवस्तु का निवासी वप्प निगंठनातपुत्त का अनुयायी था। बुद्ध के वहाँ पहुँचने पर वह उनके दर्शन करने गया। बुद्ध के शिष्य मोद्गल्यायन ने वप्प से पूछा—क्या एक व्यक्ति जो मन-वचन-काय से संयत हो, अविद्या से विरक्त हो और विद्यागामी हो, उसे पूर्वजन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो सकती है? वप्प ने कहा—हो सकती है। इसी बीच बुद्ध वहाँ आ गये और फिर बुद्ध एवं वप्प में संलाप होने लगा। अन्त में कहा गया है कि वप्प बुद्ध का अनुयायी भी हो गया।[१०]

मृगार श्रेष्ठी

श्रावस्ती का मृगार श्रेष्ठी निगण्ठनातपुत्त का अनुयायी था। उसने अपने पुत्र पूर्णवर्धन का परिणय सम्बन्ध साकेत के धनञ्जय नाम श्रेष्ठी की पुत्री विशाखा से किया। विशाखा बुद्ध की उपासिका थी। एक बार मृगार के घर में जैन निर्ग्रन्थ आये। विशाखा ने उन्हें देखकर वितृष्णा भाव व्यक्त किया। मृगार को उसका यह कृत्य असह्य हो गया। उसने भी बौद्ध भिक्षुओं का आदर-सम्मान नहीं किया। अन्त में कहा गया है कि विशाखा के प्रयत्न से मृगार भी बुद्ध का अनुयायी हो गया।[११]

---

६ वही, अभयराजकुमार सुत्त
७ अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात
८ संयुत्तनिकाय, संखसुत्त
९ वही, कुलसुत्त
१० अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात
११ धम्मपद, अट्ठकथा

सच्चक निगण्ठपुत्त

सच्चक निगण्ठपुत्त निगण्ठनातपुत्त का अनुयायी था। वह विद्वान, प्रतापी, पण्डितमानी और बहुजन-सम्मानित था। उसने बुद्ध से भी वादविवाद किया।[१२] कालान्तर में बुद्धघोष ने अट्ठकथा में एक कथा गढ़कर सच्चक को निगण्ठ-निगण्ठी का पुत्र बना दिया।[१३]

आराड कालाम

आराड कालाम वैशाली में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ रहते थे। बुद्ध ने भी बोधि-प्राप्ति के पूर्व उनसे ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।[१४] यहाँ आराड कालाम को जितश्रावक कहा गया है। सम्भव है, वह पहले पार्श्वनाथ परम्परा का और बाद में महावीर का अनुयायी रहा हो। सांख्यदर्शन से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

इनके अतिरिक्त शालिभद्र, सिंहभद्र, उदयसिंधु, अर्जुनमाली, सद्दालपुत्र, विक्रम सिंह, गुहक आदि अनेक राजे-महाराजे, धनपति भगवान महावीर के भक्त रहे जिन्होंने उनके धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। *हस्तिशीर्ष (कुरु का पश्चिमोत्तर प्रदेश)* के राजा अदीनशत्रु के पुत्र सुबाहु, सौगन्धिका नगरी के राजा अप्रतिहत, कलिंग नरेश वीरकृष्णमित्र और जितशत्रु, पुण्ड्रवर्धन (बंगाल) के राजा सिंहरथ, पुष्करदेश (दक्षिण भारत) के राजा विद्युराज, मत्स्य देश (विराटनगरी, जयपुर के समीप) के राजा नन्दिवर्धन, पांचाल (काम्पिल्य) के राजा संजय, दशार्ण (मालव प्रदेश) के राजा दशार्ण भद्र, सुह्य (ताम्रलिप्त) देश का जन-जन, अश्मक-पोतनपुर (पैठन-प्रतिष्ठान बंगाल-उड़ीसा का भाग) के राजा प्रसन्नचन्द्र, केकयार्धजनपद के राजा प्रदेशी, कुरुदेश हस्तिनापुर के राजा शिवराजर्षि, पुरिमताल (प्रयाग) के राजा महाबल, वर्धमानपुर (बंगाल) के राजा विजयमित्र, काकन्दी नगरी (गोरखपुर) के राजा धन्य और सुनक्षत्र आदि महानुभावों ने भी भगवान महावीर के समवसरण में आकर जैनधर्म ग्रहण किया। कहा जाता है कि कम्बोज (गान्धार का पार्श्ववर्ती प्रदेश), बाल्हीक (अफगानिस्तान के उत्तर में), और यवन (यूनान) देशों में भी भगवान महावीर ने अपना धर्म-प्रचार किया।[१५]

उपासिका वर्ग

जैनधर्म राजन्य वर्ग तक ही सीमित नहीं था बल्कि वह महिला वर्ग में भी लोकप्रिय हो गया था। नारी लोक के जागरित करने में महावीर ने पहल की और तत्का-

१२ मज्झिम निकाय, महासच्चकसुत्तन्त

१३ मज्झिम निकाय, अट्ठकथा, १, ४५०

१४ महावस्तु

१५ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ० २८०-१

लीन प्रचलित दासता से मुक्त किया। सामाजिक क्षेत्र में यह एक नयी क्रान्ति थी। चन्दना आदि इस क्रान्ति की प्रमुख उपासिकाएँ थीं।

चन्दना

चन्दना चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की पुत्री थी। उसका नाम मूलतः वसुमती था। कौशाम्बी के राजा शतानीक और दधिवाहन के बीच किसी कारणवश वैमनस्य हो गया। अवसर पाकर शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया और योद्धाओं को नगरी लूटने की छूट दे दी। दधिवाहन के मन्त्रियों ने दधिवाहन को तो गुप्त मार्गों से जंगल में भेज दिया पर महारानी धारिणी और वसुमती अन्यत्र नहीं जा सकीं। संयोगवशात् शतानीक के किसी सैनिक ने उन्हें पकड़ लिया और कौशाम्बी की ओर उन्हें लेकर निकल गया। धारिणी ने उसके दूषित विचार जानकर मार्ग में ही अपने शील रक्षण के लिए प्राणोत्सर्ग कर दिये। सैनिक किसी प्रकार से वसुमती को ही घर तक ला सका।

कौशाम्बी पहुँच कर सैनिक ने विक्रयार्थ वसुमती को बाजार में खड़ा कर दिया। श्रेष्ठी धनावह ने उसे खरीदा और अभिजातकुलीन कन्या समझकर उसे अपनी पत्नी मूला को सौंप दिया। पति-पत्नी ने उसका पुत्रीवत् पालन-पोषण किया।

वसुमती बड़ी मेधावी और प्रतिभासम्पन्न राजकुमारी थी। उसका स्वभाव चन्दन के समान शीतल और आनन्दकारी था। इसलिए श्रेष्ठि परिवार ने उसका नाम चन्दना रख दिया।

चन्दना अपनी बाल्यावस्था को पारकर तरुणावस्था पर आयी। उसका सौन्दर्य और भी अधिक निखर गया। उसे देखकर मूला को यह भाव आने लगा कि कदाचित् उसका पति धनावह चन्दना के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उससे विवाह सम्बन्ध न कर ले। इसलिए वह चन्दना को सदैव के लिए अपने मार्ग से हटा देना चाहती थी।

एक दिन धनावह के पैर धुलाते समय चन्दना के बाल नीचे बिखर गये। धनावह ने सन्तति वात्सल्य से उन्हें उसके जूड़े में लगा दिया। मूला ने इसे देख लिया और उसकी आशंका और भी पक्की हो गई।

एक बार धनावह कहीं बाहर गये थे। अवसर का लाभ उठाकर मूला ने चन्दना को खूब पीटा और सारे बाल कटवा दिये। बाद में हाथ पैर में हथकड़ी-बेड़ी डालकर उसे भवरे में बन्द कर दिया। तीन दिन तक वह भूखी-प्यासी वहीं पड़ी रही और अपने कर्मों पर चिन्तन करती रही।

लौटने पर धनावह ने जब चन्दना को नहीं देखा तो उसके विषय में सेवकों से पूछा। किसी तरह एक दास ने सारी घटना बता दी। भंवरे का दरवाजे खोलने को जब वह पहुँचा तो चन्दना का म्लान-मुख देखकर उसके आँसू आ गये। वात्सल्य की

ओर गया तो उसे सूप में मात्र उड़द के बाकले मिले। उन्हें चन्दना को देकर वह लोहार के पास दौड़ा।

इसी बीच भगवान महावीर अपने कठोर अभिग्रहपूर्वक आहार को निकले। उनको अपनी ओर आते हुए देखकर वह बड़ी प्रसन्न हुई। वह किसी प्रकार सूप लेकर देहली से बाहर निकली और तपस्वी महावीर से भिक्षा-ग्रहण करने की अभ्यर्थना की। उसके पास सूप में मात्र उड़द के बाकले थे। उसके मन में यह बात उठी कि इतना तुच्छ आहार इतने बड़े व्यक्तित्व को कैसे समर्पित किया जाये। यही सोचकर उसकी आँखें भर आयीं। साथ ही महावीर जैसे महान पात्र को देखकर वह हर्ष से विह्वल हो उठी। आधुनिक विज्ञों ने ऐसा भी लिखा है कि महावीर ने अपने अभिग्रह की पूर्ति में कुछ कमी देखी। वे भिक्षा ग्रहण किये बिना ही बाहर निकलने लगे। यह देख चन्दना की आँखों में आँसू आ गये। अब साधक महावीर का अभिग्रह पूरा हो चुका था। उन्होंने उसकी भिक्षा को स्वीकार कर लिया।

चन्दना के इस भाग्योदय पर सभी श्रावक उसे श्रद्धा से देखने लगे। महाराजा शतानीक भी सपरिवार उसकी अभिवन्दना करने आये। शतानीक के साथ दधिवाहन का अंगरक्षक भी बन्दी के रूप में आया था। चन्दना को देखकर वह उसके पैरों पर गिर पड़ा। पूछने पर उसने चन्दना का समूचा परिचय दिया। शतानीक की पत्नी मृगावती चन्दना की माता पद्मावती की बहिन थी। सभी मिलकर बड़े गद्गद हुए।

चन्दना को इस घटना के कारण संसार से वैराग्य हो गया। वह आध्यात्मिक साधना में जुट गई। संसार के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए उसने आत्मसंयम कर लिया। महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद यही चन्दना उनकी अग्रणी साध्वी आचार्या हुई। महावीर स्वामी ने श्रमणी संघ का संचालन भी चन्दना के ही हाथ सौंपा। चन्दना का दासत्व महावीर के कारण ही छूट सका।

मृगावती

कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी महारानी मृगावती महावीर स्वामी की परम भक्त थी। उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने उसे हथियाने के लिए कौशाम्बी पर आक्रमण किया। उज्जयिनी के सामने कौशाम्बी सैनिक दृष्टि से प्रबल नहीं थी। इस आक्रमण काल में शतानीक की मृत्यु हो गई। महारानी ने कौशाम्बी की यथाशक्ति रक्षा की। वह भगवान महावीर की परम भक्त थी। इसी आक्रमण के बीच महावीर स्वामी का समवशरण कौशाम्बी पहुँचा। चण्डप्रद्योत भी वहाँ दर्शनार्थ गया। महावीर का उपदेश सुनकर मृगावती अपने राजकुमार पुत्र उदयन की सुरक्षा का भार चण्डप्रद्योत को सौंपकर साध्वी हो गई। साथ ही शतानीक की बहिन जयन्ती ने भी भिक्षुणी व्रत ग्रहण किया। मृगावती जैनधर्म की अनुयायिनी थी, इसके और भी उल्लेख मिलते हैं।[१६]

---

१६ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र ६१

अध्याय ८

महावीर का दर्शन और आधुनिक मानस

महावीर का दर्शन और आधुनिक मानस

महावीरकालीन साहित्य, कला और दर्शन पर दृष्टिपात करने के बाद एक महत्व प्रश्न खड़ा होता है कि आधुनिक मानस के लिए वह कहाँ तक उपयोगी है जन-साधारण के लिए। इसका सीधा उत्तर यह है कि साहित्य युगीन अवश्य होता है, पर उसे सार्वभौमिक भी होना चाहिए। सार्वभौमिकता साहित्य की वास्तविक निकष है। महावीर के साहित्य की सार्वभौमिकता यही है कि वह आज के संत्रस्त जीवन के लिए भी उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार २५०० वर्ष पहले था। इस दृष्टि से वह हमारी कसौटी पर खरा उतरता है।

समता और अहिंसा तथा अपरिग्रह और अनेकान्त इन चार महास्तम्भों पर महावीर का समूचा उपदेश प्रासाद निर्मित हुआ है। इनमें भी अहिंसा प्रधान है जो सभी को समाहित किये हुए है। जीवन के हर क्षेत्र की समस्या का समाधान अहिंसा के आचरण में सन्निहित है। यह श्रमण संस्कृति की आधारशिला है। उसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रमुख रूप हैं। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरंजित है।

अहिंसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। समत्व की प्राप्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र पर अवलम्बित है। इसी चारित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। यह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के प्रनष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत आत्मा को ही धर्म कहा गया है। धर्म की परिणति निर्वाण है।

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहि।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो॥
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥[1]

इस प्रकार धर्म वस्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें सहानुभूति,

---

१ प्रवचनसार १, ६-७

सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सम्प्रदाय से सबद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमांगलिक है। व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में सम्भव है।

धर्म और अहिंसा मे शब्द-भेद है, गुण-भेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अत. विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए सयम, तप, दया आदि जैसे मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा।

हिंसा के कारण

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद और कषाय। इनके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, कार्य मे क्रोधादिक भाव प्रकट होते हैं, जिनसे स्वय के शब्द प्रयोग रूप भावप्राणो का हनन होता है। कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्यप्राणो का भी हनन सभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तिक वेदनादान अथवा पर-द्रव्यव्यपरोपण भी इन्हीं भावों का कारण है। इस प्रकार हिंसा के चार भेद हो जाते हैं—स्व-भाव हिंसा, स्व-द्रव्यहिंसा, पर-भावहिंसा और पर-द्रव्यहिंसा[२]। आचार्य उमास्वाति इसी को सक्षेप मे 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा' कहते हैं। इसलिए भिक्षुओ को कैसे चलना-फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि प्रश्नों का उत्तर दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक अप्रमत्त होकर उठना-बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

> कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे कहं सए ?
> कथ भुंजन्तो भासन्तो ? पाव कम्म न बधई ?
> जयं चरे जय चिट्ठे जयमासे जयं सए।
> जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ॥[३]

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव हैं। उनके दूर हो जाने पर स्वभावतः अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दों मे समस्त प्राणियो के प्रति सयम भाव ही अहिंसा है, 'अहिंसा निउण दिट्ठा सव्वभूएसु सजमो'।[४] जगत का हरेक प्राणी अधिकाधिक सुख-प्राप्ति के साधन जुटाता है। उसे मरने की आकांक्षा नहीं होती।[५] उसके ये सुख-प्राप्ति के साधन अहिंसा और संयम की पृष्ठभूमि मे जुटाये जाने

---

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४३
३ दशवैकालिक, ४, ७-८
४ वही ६, ६
५ वही, ६, ११

चाहिए। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहें। उसमें सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शांति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे, यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥[६]

अहिंसा के साधक का आचरण

अहिंसा के एक-देश का पालन गृहस्थवर्ग करता है और सर्वदेश का पालन मुनिवर्ग करता है। उसी को जैनशास्त्रीय परिभाषा में क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है। सकलचारित्र और विकलचारित्र इसी के पर्यायार्थिक शब्द हैं। गृहस्थ वर्ग आरम्भी, उद्योगी और विरोधी रूप स्थूल हिंसा का त्यागी नहीं रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार की हिंसा से दूर रहता है।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है, वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

संजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोई।
दाह छेदक संघायकसु उत्तम कंचणु होई॥[७]

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय विमुक्त होने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर वह पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान (अन्तर) में ही गोपन कर लेता है।[८]

---

६ दशवैकालिक, १, १, देखिए, धम्मपद १६-६
७ भाव पाहुड, गाथा १४३ की टीका
८ जहा कुम्मे स अगाइं सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥—सूत्रकृतांग १, ८-१६

दर्शन और चिंतन

भगवान महावीर का व्यक्तित्व महामहिम और चिन्तनशील था। उन्होंने समसामयिक परिस्थितियों का सूक्ष्म चिन्तन कर मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने सामाजिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक क्षेत्र में सम्बद्ध जो दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया वह अनुपम था। २५०० वर्ष के बाद भी व्यावहारिक क्षेत्र में उनकी उपयोगिता और आवश्यकता में क्षीणता नहीं आयी। यह उनके उपदेशों की सार्वभौमिकता का प्रबल प्रमाण है।

धर्म और अहिंसा

धर्म शब्द बड़ा *व्यापक है। हर क्षेत्र का धर्म पृथक्-पृथक् होता है।* प्रत्येक व्यक्ति अथवा साधक के धर्म की मीमांसा भी पृथक्-पृथक् होती है। इसलिए महावीर ने अहिंसामूलक धर्म की प्रस्थापना कर इस विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया।

दशवैकालिक सूत्र में अहिंसा, संयम और तप को धर्म कहा है और इसी को उत्कृष्ट मंगल अर्थात् कल्याणकारी बताया है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम इन तीन तत्त्वों को निर्वाण-प्राप्ति में कारण माना है।[2] दशवैकालिक और कुन्दकुन्द के विचारों में कोई अन्तर नहीं। मात्र कथन के प्रकार में अन्तर है। अहिंसा और तप एवं आगमज्ञान और तत्त्वार्थश्रद्धान एक-दूसरे के परिपूरक हैं। अतएव धर्म के इन तीनों तत्त्वों को ही हम जैनधर्म कह सकते हैं। जैनधर्म का समूचा आचार-विचार इन्हीं तत्त्वों पर आधारित है। इन तीनों तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण ही आत्मज्ञान और भेद-विज्ञान की प्राप्ति में मूल कारण बनते हैं।

स्वामी कार्तिकेय ने धर्म के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत ...

धम्मो वत्थुसहावो
रयणत्तयं च धम्मो

---

१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा ... १

२ ण ... ण

३

इस परिभाषा में धर्म के चार तत्त्व दिये गये हैं—

(१) वस्तु स्वभाव धर्म है, (२) क्षमादिक दश गुण धर्म है, (३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का पालन धर्म है, और (४) जीवों का संरक्षण अथवा जीव दया धर्म है।

प्रत्येक वस्तु का अपना एक स्वभाव होता है और वह स्वभाव सदैव अपरिवर्तनीय होता है। यदि परिवर्तन आता भी है तो वह अस्थिर होता है। जल का स्वभाव शीतल है पर-पदार्थ अग्नि आदि के संयोग से उसमें जो उष्णता आती है वह यथासमय दूर हो जाती है। मानव का स्वभाव मानवता है। राग-द्वेषादि कारणों से वह अभिभूत अवश्य हो जाती है पर नष्ट नहीं होती। अतः आत्मा अथवा जीव का मूल स्वभाव रागादिक विकार नहीं है। उसका स्वभाव तो समभाव में स्थिर रहना और स्व-स्वरूप में रमण करना है। मोह-क्षोभ से विरहित आत्मा का यही परिणाम समत्वभाव कहलाता है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥[४]

त्रिरत्न

भगवान महावीर ने साधना की सफलता के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनों तत्त्वों को 'त्रिरत्न' कहा गया है। दर्शन का अर्थ श्रद्धा अथवा व्यावहारिक परिभाषा में आत्मानुभूति कह सकते हैं। श्रद्धा और आत्मानुभूति पूर्वक ज्ञान और चारित्र का सम्यक् योग ही मोक्ष रूप साधना की सफलता में मूलभूत कारण है। मात्र ज्ञान अथवा मात्र चारित्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनों की समन्वित अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहा गया है।[५]

मोक्ष प्राप्ति का रत्नत्रय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास, ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार संसार के जन्म-मरण रूपी रोग से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सम्यक् योग होना आवश्यक है। क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति इधर-उधर दौड़कर भी जल जाता है और पगु व्यक्ति देखते हुए भी जलने से बच नहीं पाता। यदि अंधा और पगु दोनों साथ हो जायें और नेत्रहीन व्यक्ति के कन्धे पर पगु बैठ जाये तो दोनों का उद्धार हो जावे। पगु मार्ग-निर्देशन कर ज्ञान का कार्य करे और नेत्रहीन पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों बिना जले नगर

---

४ प्रवचनसार १,७

५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, १, १

में आ सकते हैं। एक चक्र से रथ नहीं चलता। अतः सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का संयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

> हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
> धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥
> संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
> अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ सम्प्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ॥[6]

जैनदर्शन में जो स्थान सम्यग्दर्शन का है वही स्थान बौद्धदर्शन में सम्मा-दिट्ठि का है। दोनों का अर्थ भी प्रायः समान है। साधक के लिए साधना के प्रारम्भ में यह आवश्यक है कि वह जिस साधना-पथ का अनुसरण करना चाहता है उसे समुचित रूप से समझे और विश्वास करे। यही श्रद्धा विश्वास और ज्ञान है। आत्मा की ये दोनों अविनश्वर शक्तियाँ हैं। जिस शक्ति से पदार्थ जाने जाते हैं वह ज्ञान है और जिससे तत्त्व-श्रद्धान होता है वह दर्शन है। आत्मा में इन दोनों की प्रवृत्ति होती है। अखण्ड द्रव्यदृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद भी नहीं है। जैसे मेघ-पटल के हटते ही सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ ही प्रस्फुटित होता है वैसे ही दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होते ही आत्मा में सम्यक्दर्शन की प्रवृत्ति होती है। जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, आदि मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप में सम्यग्ज्ञान बन जाते हैं, पर यहाँ चूँकि दर्शन ही ज्ञान में सम्यक्त्व लाने के कारण पूज्य है अतः उसे ही प्रथम ग्रहण किया गया है। बाद में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रखा गया है। इन तीनों में पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी और न भी हो। पर उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ निश्चित है। जैसे जिस साधक को सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे सम्यक्चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।[7]

भगवान महावीर ने अपने समूचे चिन्तन के प्रासाद को इन तीनों तत्त्वों के सुदृढ़ स्तम्भों पर ही खड़ा किया है। हम संक्षेप में उनका परिचय निम्न प्रकार कर रहे हैं।

सम्यग्दर्शन

भगवान महावीर ने समूचे जगत को दो तत्त्वों में विभाजित किया है—जीव और अजीव। उनके परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का आख्यान किया गया है। इन सात तत्त्वों अथवा उनमें पुण्य-पाप

---

६ तत्त्वार्थवार्तिक १.१.५१ तुलनार्थ देखिए—आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं,
—सूत्रकृतांग १.१२.११

७ वही १.१, २९-३१

मिलाकर नव पदार्थों में रुचि होना सम्यग्दर्शन है।[८] उमास्वामि ने इन तत्वों के अर्थ में श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन बताया है।[९] आवश्यकसूत्र में 'अरिहन्त मेरे सच्चे है, श्रमण साधु मेरे गुरु है और अरिहन्त जिन द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक त है' ऐसा स्वीकार करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है।[१०]

सच्चा देव वही हो सकता है जो मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, मद, क्रोध, माया, लोभ, रति, अरति, शोक, असत्यभाषण, चौर्यकर्म, मत्सर, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीडा और हास्य इन अठारह दोषों से विमुक्त हो, वीतरागी हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो। सच्चा आगम वह है जो आप्त के द्वारा कहा गया हो, वादि प्रति वादियों के द्वारा अनुल्लंघ्य हो, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से जिसमे किसी प्रका विरोध न आता हो, आत्मोपयोगी तत्त्वों का उपदेष्टा हो, सर्व प्राणियों के हित का पादक हो और मिथ्यामार्ग को दूर करने वाला हो तथा सच्चा गुरु वह है जो पंचेन्द्रि के विषयों की आशा-तृष्णा के वशगत न हो, सभी प्रकार के आरम्भों से रहित अपरिग्रही हो, सदा ज्ञान, ध्यान और तप में निरत रहता हो।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥
आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥
विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥[११]

सम्यग्दर्शन के प्रकार

सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है—निसर्गज और अधिगमज। जो बाह्योपदेश के बिना प्रगट होता है वह निसर्गज है तथा जो परोपदेश से प्रगट होता है वह अधिगमज है। इन दोनों सम्यग्दर्शन के प्रकारों में आत्मप्रतीति होना मूल कारण है। मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के अनुसार सम्यग्दर्शन के तीन भेद भी माने गये हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। औपशमिक सम्यग्दर्शन में मिथ्यात्वादिक कर्म प्रकृतियों का उपशम हो जाता है, वे शान्त होकर बैठ जाती हैं, क्षायोपशमिक में कर्मों के एकदेश का क्षय हो जाता है और एकदेश का उपशम होता है पर क्षायिक भाव में कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

---

८ तच्चरुई सम्मत्तं, —मोक्खपाहुड, ३८
९ तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, —तत्त्वार्थसूत्र, १, २
१० अरिहंतो मह देवो जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं सम्मत्तं मए गहियं ॥
११ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५, ९-१०

दिगम्बर ग्रन्थों में चारित्र की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद किये गये हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सराग सम्यग्दृष्टि के प्रशम (रागादिक की मन्दता), संवेग (संसारभय), अनुकम्पा (प्राणिदया), और आस्तिक्य (जीवादिक तत्त्वों का अस्तित्व), ये चार प्रकार के शुभ भाव होते हैं। पर वीतरागी सम्यग्दृष्टि स्व-स्वभाव में स्थिर रहता है और निर्विकल्प दशा में विचरण करता रहता है। वह बहिरात्मा के विषयों को छोड़कर अन्तरात्मा के विषयों का चिन्तन करता है और सदैव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ भावना को भाता रहता है। श्वेताम्बर साहित्य में सराग चारित्र और वीतराग चारित्र का उल्लेख हुआ है किन्तु दर्शन की पूर्णता तो चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है अत. उसके कोई भेद नहीं किये गये।

सप्त तत्त्व

भगवान महावीर ने संसार के मूलतत्त्व जीव और अजीव को आध्यात्मिक क्षेत्र में सप्त तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया। ये सप्त तत्त्व इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पुण्य और पाप को पृथक् रूप से मिला देने पर इन्हीं तत्त्वों को नव पदार्थ कहा गया है। पालि साहित्य में प्राप्त उद्धरण से महावीर के इस सिद्धान्त की प्राचीनता सिद्ध होती है।[12]

जीव

पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इन दश प्राणों में से अपनी पर्यायानुसार यथोचित प्राणों के द्वारा जो जीता था, जी रहा है और जीवेगा, इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं। वह जीव चेतना स्वरूप है। चेतना अथवा उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप है। अशुद्ध परिणामों के परिणमन में भी वह समर्थ है। रागादि भावों और ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है। स्वदेह-मात्र है। ऊर्ध्वगमन स्वभावी है। जब तक कर्मों से संयुक्त है, वह संसारी है और जब कर्मों से विमुक्त हो जाता है तो वह मुक्त जीव कहलाता है।[13]

जीव का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है इसलिए जीव गुणी और ज्ञान-दर्शन गुण हैं। गुण और गुणी को सर्वथा विमुक्त नहीं किया जा सकता। जल का गुण शीतत्व अग्नि आदि कारणों से कुछ समय के लिए उष्ण किया जा सकता है पर ईंधन आदि कारणों के दूर होने पर जल पुनः अपने स्वभाव में आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब तक कर्मों से बँधा रहता है, उसका ज्ञान-दर्शन स्वभाव उद्घाटित नहीं हो पाता और जैसे ही वह कर्म-मल से विमुक्त हो जाता है, उसका ज्ञान-दर्शन प्रस्फुटित हो जाता है।

आत्मा ज्ञान के बराबर और ज्ञान ज्ञेय के बराबर कहा गया है। ज्ञेय लोक

---

१२ मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्तन्त

१३ जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ —पञ्चास्तिकाय, २७

तथा अलोक में व्याप्त है, अतः ज्ञान भी सर्वगत है। कर्म-विमुक्त विशुद्ध आत्मा उन सर्वगत पदार्थों को जानने-देखने में सक्षम हो जाता है। अतीन्द्रिय ज्ञानी होने से उसे सुख-दुःख नहीं होते।[१४]

जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीव सशरीरी होते हैं और मुक्त जीव अशरीरी। शरीर पाँच प्रकार का होता है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें तैजस और कार्मण शरीर सभी जीवों के होते हैं। साधारणतः औदारिक शरीर मनुष्य और पशु-पक्षियों में तथा वैक्रिय शरीर देव और नारकियों में होता है।[१४]

संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—त्रस और स्थावर। जिनमें चलने-फिरने की शक्ति नहीं रहती वे स्थावर हैं और जो इस प्रकार की शक्ति से युक्त हैं वे त्रस कहलाते हैं। स्थावर कायिक जीव पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये जीव केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले होते हैं। इनमें से जलकायिक और वायुकायिक जीव गति-स्थावर भी कहलाते हैं।

दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय (स्पर्शन और रसना) जीव—कृमि, जोंक आदि। त्रीन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण) जीव—चींटी आदि। चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु) जीव—भ्रमर, मक्षिका, पतंग आदि, और पंचेन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) जीव—मनुष्य; गाय, भैंस, पशु, पक्षी आदि तिर्यंच, नारकी और देव। मनुष्य प्रायः गर्भज होते हैं। तिर्यञ्च सम्मूर्छनज और गर्भज दोनों होते हैं। नारकी नपुंसक और उपपाद (रज-वीर्य के बिना) जन्म वाले होते हैं और देवों के स्त्री-पुरुष रूप उपपाद जन्म होता है। सम्मूर्छनज का तात्पर्य है—वे जीव जो माता-पिता के रज-वीर्य के बिना ही अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा शरीर की रचना करते हैं।

अजीव तत्त्व

जिस द्रव्य की चेतना न हो, अथवा जिसे हेयोपादेय का ज्ञान नहीं हो वह अजीव कहलाता है। इस अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव को मिलाकर इन्हें षड्द्रव्य भी कहा जाता है। ये पाँचों अजीव द्रव्य एक साथ रहते हुए भी पृथक् और स्वतन्त्र हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्य नित्य, अवस्थित, अरूपी अथवा अमूर्तिक हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी और मूर्तिक है। रूपी का तात्पर्य है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाला पदार्थ।

पुद्गल

सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत

पुद्गल की पर्यायें हैं।[15] वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, पर यह सत्य नहीं। शब्द का कोई आकारादि अवश्य होना चाहिए अन्यथा वह रेडियो, रिकार्ड आदि में पकड़ा नहीं जा सकता। आधुनिक विज्ञान का मैटर और एनर्जी भी पुद्गल का ही रूपान्तर है। स्वर्ण, रजत, पाषाण, हाइड्रोजन, आक्सीजन, उद्जन आदि भी पुद्गल स्कन्ध हैं।

पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। दो या दो से अधिक भागों में विभक्त किया जा सकने वाला रूपी द्रव्य का भाग स्कन्ध है। दृष्टिगोचर होने वाले सभी पदार्थ स्कन्ध रूप हैं। स्कन्धों के ही अंश क्रमशः देश, प्रदेश और अविभाज्यांश परमाणु कहलाते हैं। परमाणुओं के ही संयोजन और वियोजन से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। पुद्गल चूंकि बहुप्रदेशी है अतः उसे अस्तिकाय कहा गया है। ये पुद्गल द्रव्य-स्कन्ध अनादिकाल से अवस्थित हैं और अनन्तकाल तक अवस्थित रहेंगे। जो भी परिवर्तन होता है, वह उनकी पर्यायों में होता है। पर्याय रूप परिणमन से पुद्गल का मूल रूप नष्ट नहीं होता। इसलिए पुद्गल को द्रव्य कहा गया है और उस द्रव्य का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप माना गया है। संसार का कोई भी पदार्थ द्रव्य की इस परिभाषा की सीमा से बाहर नहीं है।[16] ये पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। पर परमाणु एक प्रदेशी है। वह आकाश के एक प्रदेश को ही स्पर्श करता है। पुद्गल और जीव एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन कर सकते हैं अतः वे सक्रिय हैं।

धर्म और अधर्म

पुद्गल के समान धर्म और अधर्म द्रव्य भी अस्तिकायिक हैं। ये जैन-दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। धर्म द्रव्य स्वयं तो निष्क्रिय और अप्रेरक है पर वह जीव और पुद्गल को गमन कराने में उदासीन अथवा बाह्य सहायक अवश्य होता है। जिस प्रकार जल मछली को तैरने की प्रेरणा नहीं देता पर तैरती हुई मछली को सहायक अवश्य होता है उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया का कारण होता है। उसके बिना कोई भी जीव तथा पुद्गल स्थानान्तरण नहीं कर सकता।[17]

अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्य जैसा ही है। वह जीव और पुद्गल द्रव्य को ठहरने में छाया की तरह कारण होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं। वे लोक में तिल-तैलवत् व्याप्त हैं। असंख्यात प्रदेशी हैं और निष्क्रिय हैं।

---

१५ तत्त्वार्थसूत्र ५-२४

१६ सद्द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, —वही, ५-२९-३०

१७ पञ्चास्तिकाय, ८३-८९

आकाश

आकाश भी अस्तिकायिक द्रव्य है। उसका स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अध और काल द्रव्य को अवकाश देना है, अवगाहन देना है। उसके दो भेद हैं—लोकाका और अलोकाकाश। लोकाकाश में ही धर्म-अधर्म द्रव्य तिल-तैलवत् व्याप्त रहते हैं उ यहाँ जीव और पुद्गलों की गति बनी रहती है। जहाँ तक ये द्रव्य हैं वहाँ तक लो है। लोक से बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश है। आकाश अनन्त, नित्य औ अमूर्त पदार्थ है।

काल

काल को कुछ जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना और कुछ ने इसे स्वत द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। भगवती सूत्र में भी द्वितीय सिद्धान्त मिलता है। इ सन्दर्भ में दो मान्यतायें हैं। दिगम्बर मान्यता काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वी करती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा उसे पृथक् द्रव्य नहीं मानती। उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र) में 'कालश्चेत्येके' (५-३८) पाठ मिलता है। जि अनुसार काल वहाँ स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है पर दिगम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र में 'कालश्च' पा मिलता है जिसके अनुसार वहाँ काल को पृथक् द्रव्य स्वीकार किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी काल का व्याख्यान स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में ही कि है। तदनुसार काल अरूपी अजीव द्रव्य है। जीव और पुद्गलों के परिणमन को दे कर व्यवहार-काल का ज्ञान होता है और चूँकि बिना निश्चयकाल के जीव और पुद्गलों का परिणमन नहीं हो सकता, इसलिए जीव-पुद्गल के परिणमन से निश काल का ज्ञान होता है। व्यवहार काल पर्याय प्रधान होने से क्षणभंगुर है औ निश्चय काल द्रव्य प्रधान होने से नित्य है।[१८] घड़ी, घण्टा, भूत, भविष्य, वर्तमा आदि व्यवहारकाल है और पदार्थ की वर्तना (स्वसत्ता की अनुभूति) से उसके निश्च काल का पता चलता है।[१९]

कर्म

जीव के सुख-दुःख का कारण उसके स्वयं के कर्म होते हैं। सुख-दुःख के रूप विपाक का उपभोग वह स्पर्शनादि मूर्त द्रव्यों के द्वारा करता है। अतः क मूर्त और पौद्गलिक माने जाते हैं। संसारी जीव इन्हीं कर्मों के उदय-उदीरणा के स्वरूप रागद्वेषादि अशुद्ध भाव करता है। उनसे उसे नवीन कर्मों का बन्ध हो वह नवीन शरीरों में जन्म-ग्रहण करता है, औदारिकादि शरीर पाता है, शरी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण होता है, विषय-ग्रहण से राग-द्वेष विकार भाव उत्पन्न होते हैं। विकार भावों से संसार-भ्रमण करना पड़ता है। इ

---

१८ पञ्चास्तिकाय, १००

१९ वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य, —तत्त्वार्थ सूत्र ५-२२

बराबर जीव पूर्वकृत कर्मों के कारण नवीन कर्मों को बांधता रहता है और संसार के परिभ्रमण से छुटकारा नहीं पाता।

संसारी जीव के साथ यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। जीव अमूर्त है और कर्म मूर्त है। मूर्त द्रव्य के साथ मूर्त द्रव्य का ही सम्बन्ध होता है। अतः सिद्धान्त से अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। पर व्यवहार नय से उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध होता है। यह इस प्रकार समझाया गया है कि खानी की धातु खानों में मिली है किन्तु उससे भिन्न है। यह सम्बन्ध तब तक बना रहता है जब तक वह साफ नहीं हो जाता।[20]

रागद्वेषादि कारणों से जीव सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहता है। वह अज्ञानतावश उनसे सदा सुख का अनुभव करता है। वस्तुतः वह सुख नहीं, सुखाभास है। जीव को अपने कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। माता-पिता, पुत्र, दारा तथा अन्य बान्धवों को साथ मृत्युपूर्व अलग करने आते हैं। इसलिए पुण्यकर्म यद्यपि शुभोदय के कारण है पर मुक्ति प्राप्ति के लिए वह भी बाधक बन जाते हैं। इसलिए महावीर ने इसलिए गौतम गणधर से कहा था कि 'महावीर में भी किया गया राग पुण्यकर्म के बन्ध में कारण है और वह पुण्यकर्म निर्वाण नहीं दे सकता। अतः मुझसे ममत्व मत करो।'[21]

इस तरह संसार का कारण जीव की अज्ञानता, तृष्णा, लोभ, मोहादि भाव है जिसके कारण वह संसार में अनादिकाल से भटक रहा है। ये विकार मन, वचन, काय का विशेष से विभिन्न से आत्मा को आवृत्त होते हैं जिसके कारण ही वह भेदविज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। भेदविज्ञान प्राप्त न होने के कारण जीव की यह कर्मबन्ध परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्मबन्ध चार प्रकार का होता है— १. प्रकृतिबन्ध (कर्मपरमाणुओं का स्वभाव) २. स्थितिबन्ध ३. अनुभाग (फल देने की क्षमता) ४. प्रदेशबन्ध (उनकी संख्या का नियत होना)।

प्रकृतिबन्ध की दृष्टि से कर्मों को महावीर ने आठ भागों में विभाजित किया है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—कर्म का प्रमुख कार्य है—आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत्त कर देना। जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को अभिव्यक्त नहीं होने देता वह ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञान की उत्तर प्रकृतियां (अवान्तर भेद) पांच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। इनका आवरण करने से ज्ञानावरणीय कर्म के भी मतिज्ञानावरण आदि पांच भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीय दो प्रकार के हैं—सर्वघाती और देशघाती। मतिज्ञानावरणादि प्रथम चार ज्ञानावरणीय कर्म देशघाती हैं और

---

२० पञ्चास्तिकाय, १२७–१३४

२१ उत्तराध्ययन १०,२८; भगवतीसूत्र

केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती है। ईर्ष्यावश ज्ञानदान नहीं देना, ज्ञान के उपकरणों को छिपा देना ज्ञान प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करना, ज्ञानी की निन्दा करना, आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

२ दर्शनावरणीय कर्म—जो कर्म पदार्थ-दर्शन अथवा आत्मदर्शन न होने दे वह दर्शनावरणीय कर्म है। इसके चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार भेद होते हैं। पदार्थदर्शन न कराने में निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि (स्त्यानर्द्धि) ये पाँच कारण भी होते हैं। अत दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद कहे गये हैं।

३ वेदनीय कर्म—इस कर्म से जीव को सुख-दुःखादि की अनुभूति होती है इसलिए इसके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। यहाँ की सुख की अनुभूति सांसारिक पदार्थों में अनुरक्ति के कारण होती है अतः यथार्थ नहीं है। अमनोज्ञ स्पर्श, शब्द, रूप, गन्ध, रस, मन, वचन, काय, दुःखता ये आठ प्रकार के असाता वेदनीय कर्म हैं।

४ मोहनीय कर्म—सभी कर्मों में यह कर्म प्रबलतम है। इसके कारण जीव हेयोपादेय का ज्ञान नहीं कर पाता। संसरण का प्रमुख कारण मोह ही है। अन्य भाव तो उसके परिपार्श्ववर्ती हैं। रागद्वेषादि के कारणों से ही जीव की बुद्धि तात्विक दर्शन और आचरण की ओर नहीं जाती। इसलिए इसके मूलतः दो भेद किये गये हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व। इनके कारण तत्त्व-श्रद्धा नहीं हो पाती।

चारित्रमोहनीय कर्म के कारण जीव की प्रवृत्ति सदाचरण की ओर नहीं झुकती। इसके मूल दो भेद हैं—कषाय और नोकषाय। कषाय का अर्थ है—जो आत्मा को कष्ट दे। उसके कुल भेद सोलह होते हैं। चार प्रमुख भेद हैं—क्रोध, मान माया और लोभ। हीनाधिकता के आधार पर इन चारों के चार-चार भेद होते हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ , अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ ; प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इन कषायों के कारण जीव क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में जाता है। नो कषाय का तात्पर्य है—ईषत् मनोविकार। उनकी संख्या नौ है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद होते हैं। इन कर्मों के कारण जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन होता है। केवलज्ञानी श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है और कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का।

५. आयुकर्म—जिस कर्म से जीव की आयु का बन्ध होता है, वह कर्म आयुकर्म है। इसके चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

६ नामकर्म—यह कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि की सम्यक्-असम्यक् रचना का कारण है। इसके मूलतः दो भेद होते हैं—शुभ (पुण्य रूप) और अशुभ (पापरूप) गति, जाति आदि के भेद से इसके ९३ भेद होते हैं।

७. गोत्रकर्म—इस कर्म के प्रभाव से जीव को उच्चगोत्र और नीचगोत्र प्राप्त होते हैं। अतः दो भेद हैं। उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पापरूप।

८. अन्तराय कर्म—यह कर्म सत्कार्यों में विघ्न उपस्थित करता है। इसके पाँच भेद होते हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य।

इन कर्मों को दो भागों में विभक्त किया गया है—घातिया और अघातिया। जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं वे घातिया कर्म हैं। इनकी संख्या चार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। शेष चार कर्म अघातिया कहे जाते हैं। घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अघातिया कर्मों की कोई विशेष शक्ति नहीं रह जाती। इन आठ कर्मों में प्रबलतम कर्म मोहनीय है। यही विकारों का जनक होता है। इसलिए इसका सर्वाधिक उत्कृष्टकाल माना गया है। वैसे कर्म के अनुसार ही उसकी स्थिति होती है।

आस्रव और बन्ध

पाप कर्म पुण्य का प्रतिपक्षी है। अतः पाप वह है जो आत्मा को पुण्य कार्यों की ओर से दूर रखे। यह कर्म भी अशोभन प्रकृति से सम्बद्ध है। जीव स्वयं पाप करता है और उसका फल भी उसे स्वयं भोगना पड़ता है। समवायांग में अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख मिलता है—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति, अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य ये अठारह क्रियायें वस्तुतः पाप नहीं बल्कि पाप के हेतु हैं। पाप के हेतुओं का वर्णन आस्रव की सीमा में आता है।

जीव के प्रदेशों में कर्मों के प्रवेश द्वार को आस्रव कहते हैं। अतः आस्रव कर्मागमन का हेतु है। मन, वचन और काय के परिस्पन्द को योग कहते हैं और यह योग ही आस्रव है। जैसे जलागमन द्वार से जल आता है उसी तरह योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं। जैसे गीला कपड़ा वायु के द्वारा लाई गई धूलि को चारों ओर से चिपटा लेता है उसी तरह कषाय रूपी जल से गीला आत्मा योग के द्वारा लाई गई कर्म रज को सभी प्रदेशों से ग्रहण करता है। अथवा जैसे गरम लोहपिण्ड यदि पानी में डाल दिया जाय तो वह चारों तरफ से पानी को खींचता है उसी तरह से कषाय से संतप्त जीव योग से लाये गये कर्मों को सर्वतः ग्रहण कर लेता है।[२२]

योग दो प्रकार का होता है—शुभ योग और अशुभ योग। शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का। आस्रव दो प्रकार का है—साम्प-

---

२२ तत्त्वार्थवार्तिक ६. २. ४-५

रायिक (आत्मा के स्वरूप का अभिभव करने वाला) और ईर्यापथिक (योगजन्य)। साम्परायिक आस्रव सकषायी जीवों के होता है और ईर्यापथिक अकषायी जीवों के।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आस्रव के चार भेद किये हैं—मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा), अविरति (हिंसादि सावद्य कार्यों में लगे रहना), कषाय (क्रोधादि परिणाम), और योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति)। उमास्वाति ने साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद किये हैं—स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पांच अव्रत और सम्यक्त्वादि पच्चीस क्रियायें। पच्चीस क्रियाओं से भावास्रव होता है और शेष का द्रव्यास्रव के हैं। इन्द्रिय, कषाय और अव्रत कारण हैं और क्रिया उनका कार्य। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। इन आस्रवों में तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात आदि भेद से हीनाधिकता आती जाती है।

कर्मास्रव के विशेषतः दो निमित्त होते हैं—जीव और अजीव। संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन-वचन-काय रूप त्रियोग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषाय जीवनिमित्तक हैं और निवर्तना (उत्पत्ति), निक्षेप (स्थापना), संयोग (मिलाना), तथा निसर्ग (प्रवृत्ति) अजीव निमित्तक हैं।

चेतन के साथ अचेतन कर्म का सम्बन्ध होना बन्ध है। अज्ञानी के रागादिक भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। कर्मों के विषय में हम पीछे देख चुके हैं।

संवर और निर्जरा

संवर का तात्पर्य है कर्मागमन को रोकना। जिस प्रकार नौका में छिद्रों से आने वाले जल का प्रवेश रोक दिया जाता है उसी प्रकार कर्मों के आगम-द्वार को बन्द कर देना संवर है।[२३] यह संवर दो प्रकार का है—द्रव्यसंवर और भावसंवर। पंच पापों का न करना शुभ योग है। यही शुभ योग पुण्य कर्म का और संवर का कारण होता है। जीव से इन कर्मों का पृथक् होना निर्जरा है। संवर और निर्जरा का वर्णन हम सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में आगे करेंगे।

मोक्ष

जिस प्रकार अग्नि आदि उपायों से धातु और मिट्टी दोनों अलग अलग हो जाते हैं। वैसे ही तप और संयम द्वारा जीव का कर्मरहित होना मोक्ष है।[२४] यही जीव का परम लक्ष्य होता है। जीव की विशुद्धावस्था प्रगट होने पर उसे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट होते हैं। मोक्ष से कोई भी जीव पुनः संसार में वापिस नहीं आता।

इन सप्ततत्त्वों और षड्द्रव्यों के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि महावीर ने जगत् सृष्टि को ईश्वर कर्तृक मानने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं

---

२३ आस्रवनिरोधः संवरः, तत्त्वार्थसूत्र —९.१

२४ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः, —वही, १०.२

समझी। पुद्गल द्रव्य ही भिन्न-भिन्न प्रकार से पर्यायों में परिवर्तित होता रहता है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं। अतः उनसे सृष्टि की सम्भावना हो नहीं सकती। इस स्थिति में ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीव अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता होता ही है, फिर उसे ईश्वर की क्या उपयोगिता। वस्तुतः ईश्वर जगत् का कर्ता-हर्ता है भी नहीं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए साधक में निम्नलिखित आठ गुण (अंग) होना आवश्यक है—

१. निःशंकित—सप्ततत्त्वों और देव, शास्त्र, गुरु के विषय में किसी प्रकार का संदेह न होना।

२ निःकांक्षित—सांसारिक वैभव, विषय-भोगों की इच्छा न करना।

३ निर्विचिकित्सा—आत्मा के गुणों में प्रीति अथवा धर्म के फल में सन्देह न करना।

४. अमूढदृष्टि—मिथ्यादृष्टियों में आसक्त न होना।

५ उपगूहन अथवा उपबृंहण—शुद्ध धर्म की निन्दा का प्रमार्जन करना तथा मावनाओं से आत्मधर्म की वृद्धि करना।

६ स्थितिकरण—धर्म से पतित होने पर सन्मार्ग में लगना-लगाना।

७ वात्सल्य—सहधर्मियों से प्रेमभाव रखना। और

८ प्रभावना—जैनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना।

सम्यग्दर्शन के विघातक दोष

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कुछ विघातक तत्त्व होते हैं जिनके होते हुए साधक मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। ये विघातक तत्त्व पच्चीस हैं—तीन मूढ़तायें, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष।[२१] अज्ञानता पूर्वक कार्य करना मूढ़ता है। यह तीन प्रकार की होती है—लोकमूढ़ता (सूर्य स्नानादि करना), देवमूढ़ता (कुत्सित देवताओं की पूजादि करना), और पाखण्डिमूढ़ता (पाखण्डियों को मानना)। अपनी श्रेष्ठता और दूसरे की निम्नता प्रगट करना मद कहलाते हैं। इनकी संख्या आठ है—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर। जो धर्म के आधार नहीं हैं वे अनायतन कहलाते हैं। इनकी संख्या छह है—कुदेव, कुमतावलम्बी, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्रज्ञ और कुलिङ्ग। सम्यग्दृष्टि जीव इन पच्चीस दोषों से विरहित होकर साधना करता है और विशुद्धतम अवस्था को प्राप्त करता है।

---

२१ यशस्तिलक चम्पू, अ० ६, पृ०.३२४

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान के प्रकार

सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वह है जिसमें वस्तु के समस्त पदार्थ सही स्थिति में प्रतिबिम्बित हों। सामान्यतः ज्ञान पाँच प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

जो ज्ञान स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान की उत्पत्ति का क्रम है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। पदार्थ का साक्षात्कार होना अवग्रह है। जैसे सामने यह कोई व्यक्ति आ रहा है। यह दक्षिणी है या उत्तरी इत्यादि प्रकार से उसके विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा है। तदनन्तर आकार-प्रकार आदि से यह निश्चय कर लेना कि यह उत्तरी ही है, यह अवाय है। इस अवाय को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है। यह चारों प्रकार का ज्ञान बहु, बहुविध, अल्प, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव, रूप से बारह प्रकार का होता है।

मतिज्ञान से जाने गये पदार्थ के विषय में विशेष चिन्तनात्मक ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। इसके मूलतः दो भेद होते हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग। दृष्टिवादांग के अन्तर्गत पूर्व के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। अंगबाह्य के भी सामायिक आदि चौदह भेद हैं। अन्य प्रकार से भी श्रुतज्ञान के चौदह भेद किये गये हैं—अक्षर, अनक्षर, संज्ञि, असंज्ञि, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, दोनों ज्ञान इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। श्रुत ज्ञान परोपदेशपूर्वक शब्द का अनुसरण करता है पर मतिज्ञान में शब्द का सम्बन्ध नहीं होता। जैनदर्शन में चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना गया है।

इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान के द्वारा भूत-भविष्यत काल के सीमित पदार्थों तथा दूरवर्ती वस्तुओं को जाना जा सके वह अवधिज्ञान है। इसके दो भेद होते हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशमप्रत्यय। भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक है। यह देव और नारकियों के होता है तथा कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान क्षयोपशमप्रत्ययिक है। यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। स्वरूप की अपेक्षा अवधिज्ञान के छह भेद भी माने गये हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

दूसरे के मन की बात को जानने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। वह दो प्रकार का होता है—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति ज्ञान सीधी और सरल बात को

ही जान पाता है पर विपुलमति कुटिल और कठिन बात को भी जानता है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है। एक प्रतिपाती और दूसरा अप्रतिपाती है।

केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है। इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर साधक सर्वज्ञ कहलाने लगता है।

इन पांचों ज्ञानों में से एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान होते हैं। केवलज्ञान अकेला ही होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपर्यय भी होते हैं और मिथ्याज्ञान भी होते हैं। मिथ्याज्ञान होने पर उन्हें कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान कहा जाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन दोष रहते हैं परन्तु अवधिज्ञान में संशय नहीं होता।

प्रमाण और नय

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तथा अनन्तधर्मात्मक होता है। उसके निर्दोष और परिपूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण वस्तु के समस्त पहलुओं का ज्ञाता होता है पर नय उसके एकदेश को ही ग्रहण कर पाता है। चूंकि पदार्थ अनन्त अवयवी होते हैं इसलिए नय भी अनन्त होते हैं। संक्षेप में उसके दो भेद किये गये हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय पदार्थ के मूल स्वभाव पर अथवा उसके त्रैकालिक अस्तित्व रूप पर विचार करता है तथा पर्यायार्थिक नय उसकी क्षणिक पर्यायों अथवा रूपों को उपस्थित करता है। उदाहरणतः आत्मा मूलतः अजर-अमर, विशुद्ध और ज्ञान-दर्शनवान है। परन्तु कर्मों के कारण वह संसार में जन्म-मरण करता रहता है। अतः उसकी मूल स्थिति को द्रव्यार्थिक नय व्यक्त करता है और कृत्रिम स्थिति पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत आती है।

जैन साहित्य में द्रव्यार्थिक नय के लिए निश्चयनय, शुद्धनय, परमार्थनय, भूतार्थ, भूतार्थ, स्वाभाविक, स्वमतीनय आदि तथा पर्यायार्थिक नय के लिए व्यवहारनय अशुद्धनय, अपरमार्थनय, अध्रुव, अभूतार्थ, अस्वाभाविक, परतन्त्र आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ फिर भी यदि व्यक्ति निश्चयनय को ध्यान में रखकर वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप का कथन अथवा अनुकरण करता है, तो वह अशुभ भावों को दूर कर शुभ भावों को प्राप्त करता है और फिर शुभ भावों से शुद्धोपयोग की ओर बढ़ जाता है। अतः शुद्धावस्था प्राप्त करने के लिए जीव को निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों का यथानुसार अनुकरण करना अत्यावश्यक है। दोनों का समन्वित चिन्तन ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

नय-स्वरूप

वस्तु के अन्य धर्मों को गौण कर उसके किसी एक धर्म अथवा स्वभाव का विवेचन करना नय है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करता है और नय एकदेश

को। आगम दृष्टि अथवा वस्तु तथ्य को सही समझने के लिए नय का समझना बहु
आवश्यक है। नय की संख्या सात है—

(१) नैगमनय— यह नय संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला होता है। जैसे क्रोधी व्यक्ति को सिंह कह देना।

(२) संग्रहनय—सदृश अथवा सामान्य पदार्थों को तदनुकूल शब्द से अभिहित करना संग्रहनय है। जैसे—संसार में चूँकि जड़, चेतन, सभी प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व है इसलिए उन्हें 'सत्' कह देना।

(३) व्यवहारनय—संग्रहनय के द्वारा गृहीत पदार्थों का विभाग करके उन्हें ग्रहण करना व्यवहारनय है। जैसे—सामान्य रूप मनुष्य जाति को भारतीय, जैन आदि रूप से विभक्त करके ग्रहण करना।

(४) ऋजुसूत्रनय—यह नय पदार्थ की वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करता है।

(५) शब्दनय—यह नय पदार्थ को उसके लिंग, कारक, संख्या काल आ भेद से विभक्त करता है। जैसे भार्या और कलत्र शब्दों में लिंग भेद के कारण स अर्थ होने पर भी उनमें भेद व्यक्त करना।

(६) समभिरूढ़ नय—यह नय शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद करने वा होता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, पर्यायवाची शब्द होने पर भी भिन्नार्थक होते हैं।

(७) एवम्भूतनय—जो जैसी क्रिया करने वाला होता है उसको उसी रू पुकारना। पूजा करते समय पुजारी कहना और रोटी बनाते समय उसी को रसो कहना एवम्भूतनय के अन्तर्गत आता है।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाले होते हैं। प्रथम ती नय द्रव्यार्थिक हैं और अन्तिम चार नय पर्यायार्थिक हैं। इसी तरह प्रथम चार न अर्थनय हैं और शेष तीन नय शब्दनय हैं।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होता है। उन अनन्त धर्म को साधारण व्यक्ति एक साथ समग्र रूप में न देख सकता है और न जान सकता है सभी उसे अपने-अपने दृष्टिकोण से देखते-जानते हैं। दृष्टिकोणों की विविधता सं का कारण बनती है। उस संघर्ष को दूर करने के लिए हरेक दृष्टिकोण को स्वीका किया जाना आवश्यक है। किसी भी एक दृष्टिकोण के प्रति कदाग्रह और असम्मान की भावना न हो, यह अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की मूल भूमिका है। अनेकान्तवाद विचारों में समग्र दृष्टिकोण अपनाने को कहता है और स्याद्वाद वस्तु के कथन करने में। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। "यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है" में 'ही' के स्थान पर कहीं 'भी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। फलतः सत्य का द्वार बन्द नहीं हो पाता।

प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, विनाश और स्थिति रूप त्रयात्मक स्वभाव रहता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्यों ने एक उदाहरण उपस्थित किया है। तीन व्यक्ति एक सुनार की दूकान पर गये। उनमें से एक को सोने का घड़ा चाहिए था, दूसरे को सोने का मुकुट चाहिए था और तीसरा मात्र सोना चाहता था। सोने के घड़े से सुनार को मुकुट बनाता देखकर घड़ा चाहने वाला शोक सन्तप्त हो जाता है, मुकुट चाहने वाला प्रसन्न हो जाता है और सोना चाहने वाले को न शोक होता न हर्ष। वह तो मध्यस्थ बना रहता है। इस प्रकार वस्तु में उत्पाद, व्यय और स्थिति तीनों धर्मों का अस्तित्व रहता है—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्॥

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वस्तु में सत् और असत् दोनों प्रकार के धर्म विद्यमान रहते हैं। परन्तु उनके निर्धारण में किसी प्रकार का संशय अथवा सन्देह नहीं रहता। इसलिए अनेकान्तवाद को सन्देहवाद और संशयवाद नहीं कहा जा सकता।

स्याद्वाद कथन करने की अनेकान्तवादात्मक प्रणाली है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्। उपर्युक्त प्रमाण और नयों का विवेचन स्याद्वाद के अन्तर्गत आता है। किसी भी प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से दिया जाता है। इसलिए स्याद्वाद के सन्दर्भ में सप्तभंगी का प्रयोग किया जाता है—

(१) स्यादस्ति
(२) स्यान्नास्ति
(३) स्यादस्तिनास्ति
(४) स्यादवक्तव्य
(५) स्यादस्तिअवक्तव्य
(६) स्यान्नास्तिअवक्तव्य,
(७) स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य

इस सप्तभंगी में अविरोध रूप से विधि-प्रतिषेध की कल्पना सन्निहित है। सात प्रकार के प्रश्न अथवा जिज्ञासायें सप्तभंगी की संरचना में मूल कारण हैं। प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप की अपेक्षा से सत् है और पर-रूप की अपेक्षा से असत् है। यह विधि-निषेध रूप स्याद्वाद का स्वरूप है। यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग अवधारणा के अर्थ में होता है जिससे संशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद अहिंसा की प्रतिष्ठा करने वाले सिद्धान्त हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को सौहार्द्रमय बनाने के लिए इन सिद्धान्तों की महती आवश्यकता है। संघर्ष और विवाद का मूल कारण होता है-एक दूसरे के दृष्टि-

कोण को स्वीकार नहीं करना। इस कदाग्रह को छोड़कर सहिष्णुतापूर्वक समन्वय की भूमिका पर पारस्परिक तनाव और वैमनस्य सरलता से दूर किया जा सकता है। विश्वशान्ति को प्रस्थापित करने में यह सिद्धान्त एक अमोघ साधन बन सकता है।

सम्यक्चारित्र

चारित्र का अर्थ है—आचरण करना। सम्यक् आचरण वह है जिसमें पाप-क्रियायें न हों, कषाय न हो, भाव निर्मल हो, तथा पर-पदार्थों में रागादि कि न हों।[२६] यह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है—गृहस्थों के लिए और मुनि लिए। गृहस्थों का चारित्र—देशचारित्र, सागार चारित्र, अणुव्रत अथवा श्रावक ध कहा जाता है तथा मुनियों का चारित्र—सकलचारित्र, अनगारचारित्र, महाव्र मुनिधर्म कहा जाता है।

श्रावकधर्म

श्रावक का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इन पाँचों पापों को छोड़ दे। हिंसा की सीमा में सभी पाप अन्तर्गत हो ज फिर भी उन्हें अधिक स्पष्ट करने के लिए उनको पृथक्-पृथक् कह दिया गया है। का तात्पर्य है—प्रमाद के वश होकर किसी को दुःख पहुँचाना अथवा प्राणों का करना। राग-द्वेषादि भावों के रहते हुए अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जी अथवा न मरे, किन्तु हिंसा हो ही जाती है। क्योंकि उन कषाय-भावों से व्यक्ति का घात कर लेता है।[२७] इसी प्रकार राग-द्वेषादि भावों के न रहने पर हिं जाने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। इसलिए जिसके परिणाम हिंसारूप हों वह का कोई कार्य कर सके या नहीं उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा तथा व्यक्ति के शरीर से हिंसा हो गई हो और परिणाम विशुद्ध हो तो उसे हिंसा का नहीं होना पड़ेगा।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।[२८]

पूर्वोक्त पंच पापों के साथ ही श्रावक मद्य, मांस, मधु तथा पंच उदम्बर (ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़ और पीपल जिनमें त्रस जीव रहते हैं) का त्याग है। जैनधर्म धारण करने की यह प्रथम शर्त है कि व्यक्ति मद्य, मांस, मधु त उदम्बर फलों का त्याग करे। इन्हीं को अष्टमूलगुण कहा गया है। उपर्युक्त पाँच फलों का परित्याग तथा रात्रि-भोजन त्याग भी उसे आवश्यक है। यह दृष्टव्य श्वेताम्बर साहित्य में अपवादात्मक स्थिति में मधु को ग्राह्य माना गया है।

२६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११
२७ वही, ४६-४७
२८ वही, ५१

इन व्रतों के पालन करने तथा उनमें स्थिरता लाने की दृष्टि से तीन गुणव्रतों (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत) तथा चार शिक्षाव्रतों (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण तथा अतिथि संविभाग) के परिपालन का भी विधान किया गया है। श्रावक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह देखे कौन मार्ग कौन है ? यदि वह इस बात का ध्यान नहीं रखेगा तो संभव है अनजाने में अपनी मर्यादा का भान कर वह हिंसा का कारण बन जाए।

श्रावक उपर्युक्त बारह व्रतों का पालन कर के गृहस्थ बनता है। अभ्यास करने से उसकी चित्त वृत्तियाँ धीरे-धीरे विशुद्धता की ओर बढ़ती चली जाती हैं। आत्मा के इस आध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैनधर्म में 'प्रतिमा' कहा गया है। इनकी संख्या ग्यारह है—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।[२९] इनमें प्रारम्भ के छह प्रतिमाधारी गृहस्थ कहलाते हैं और वे जघन्य श्रावक हैं। सातवीं, आठवीं और नवीं प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी या वर्णी कहा जाता है। वे मध्यम श्रावक हैं तथा दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक भिक्षुक कहलाते हैं और वे उत्कृष्ट श्रावक हैं। इनमें दसवीं प्रतिमा तक श्रावक गृहस्थावस्था में रह सकता है, पर ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने पर उसे गृहत्याग करना आवश्यक हो जाता है। इसके बाद वह परिपूर्ण निरतिचारी मुनि बन जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा में ११ प्रतिमा दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यपरित्याग अथवा परिग्रहत्याग, उद्दिष्टभक्तत्याग तथा श्रमणभूत हैं। उद्दिष्टत्याग क्षुल्लक और ऐलक रूप से दो प्रकार का है। प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में एक समान हैं। सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ है और श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा ने रात्रिभुक्ति त्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा दिया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है और दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग का उल्लेख है वह श्वेताम्बर परम्परा के उद्दिष्टत्याग में समाविष्ट हो जाता है चूँकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है, उसे ही दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार मुनि के समान ही होता है।[३०]

---

२९ ये नाम विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न रूप से पाये जाते हैं।

३० श्रावक धर्म —देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० २७

मुनिधर्म

निष्परिग्रही मुनि के लिए जैनसाहित्य में भिक्षु, अनगारी, श्रमण आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रमण का अर्थ है वह साधक जो मोह, रागादिक विकारों से रहित हो अथवा उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक सच्चा पथिक हो। जैन साधु के लिए दिगम्बर परम्परा में पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंच इन्द्रियविजय, छह आवश्यक, केशलुञ्चनता, अचेलकता, अस्नानता, भू-शय्या, स्थिति भोजन, अदन्त धावन और एकभुक्ति इन अट्ठाईस मूलगुणों का परिपालन आवश्यक है। श्वेताम्बर परम्परा में पंचमहाव्रत, पंचेन्द्रियविजय, चारकषायविजय, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य क्षमावान्, वैराग्यवान्, मनसमाधि, वचनसमाधि, कायसमाधि, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शन सम्पन्नता, चारित्रसंपन्नता, वेदना को समभाव से सहना तथा मारणान्तिक कष्ट आने पर भी समभाव रखना ये २७ मूल गुण सन्तों में माने गये हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं। इन पाँच महाव्रतों की रक्षा करने के लिए पंच समितियों का पालन किया जाता है—१ ईर्या समिति (चार हाथ आगे की भूमि को देखकर चलना), २. भाषा समिति (सावधानी पूर्वक वचन कहना), ३. एषणा समिति (निर्दोष और प्रासुक आहार ग्रहण करना), ४. आदान-निक्षेपण समिति (पोछी-कमण्डलु आदि उपकरणों को यत्नपूर्वक रखना और उठाना), तथा ५ उत्सर्ग समिति (निर्जीव स्थल पर मल-मूत्र विसर्जन करना)। साधक मुनि पंचेन्द्रियजन्य विषय-वासनाओं को जीतकर सुख-दुःख, शत्रु-मित्रादि में समता, तीर्थंकरों का स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (कृत अपराधों का शोधन), प्रत्याख्यान (त्याग) तथा कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का भी पालन करता है।

जैन मुनि हिंसादि पंच पापों के फलों पर विचार कर उनसे पूर्णतः विरक्त होने के उपायों पर चिन्तन करता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावों का अनुप्रेक्षण करता है तथा संवेग और वैराग्य की भावना भाता है। वह मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को प्रशस्त पथ में नियोजित करता है, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का भली-भाँति पालन करता है; अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, और धर्म इन बारह भावनाओं का अनुचिन्तन करता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, आदि परीषहों को यथासमय शान्तिपूर्वक सहन करता है; एवं सम्यक् अनशन, अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, (प्रतिसंलीनता) और कायक्लेश इन छः बाह्य तपों[११] तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरंग तपों का पालन करता है।[१२]

---

११ उत्तराध्ययन ३०,८
१२ वही. ३०,३०

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि निर्वाण प्राप्ति के लिए निष्परिग्रही होना आवश्यक है। परिग्रह का सम्बन्ध मूर्छा, ममता और आसक्ति से विशेष है जो मुनिजन मर्यादित वस्त्र, पात्र आदि रखते भी हैं वे संयम और लज्जा की रक्षा के लिए रखते हैं, लोभ या राग के लिए नहीं—

जं पि वत्थं व पायं वा कम्बलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥[33]

संयमशील साधु समतापूर्वक कषायादि विकार भावों पर विजय प्राप्त करता है और यह प्रयत्न करता है कि सूक्ष्म चरित्र में भी किसी प्रकार की विराधना न हो। वह न तो किसी प्रकार के सत्कार की आकांक्षा करता है और न ही यशादि की। वह तो निराकुल और निष्कषायी होकर संयम की साधना करता है। उद्गमादि दोषों से रहित होकर अनाचीर्ण कर्मों से दूर रहते हैं। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिग्रह, प्रतिलेखना, गुप्ति और अभिग्रह इन कारणों का पालन करता है। प्रतिपल अप्रमादी होकर शील का परिपालन करता है तथा आर्त और रौद्र ध्यान से दूर रहकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति में सतत उद्योगी रहता है। ऐसे अप्रमादी और उद्योगी श्रमण की उपमा सर्प, पर्वत, अग्नि, समुद्र, आकाश, तरु, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और वायु से दी गई है।

उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो य सो समणो॥[34]

इन उपायों से साधक मुनि अधिकाधिक आत्मविशुद्धि प्राप्त कर लेता है तथा अन्त में वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुक्ति-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार मिलता है।[35]

१ जीव और अजीव का सम्यग्ज्ञान
२ जीवों की गति का ज्ञान
३ बन्धन और मुक्ति का ज्ञान
४ भोगविरति
५ आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों का परित्याग
६ अनगार वृत्ति का स्वीकरण
७ संवर की साधना
८ आत्मगुणावरोधक कर्मों का निर्मूलन
९ केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति

---

३३ दशवैकालिक, ६,२०.
३४ सूत्रकृतांग १-२-२-६.
३५ दशवैकालिक ४, १२-२५: दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १५२

१० योगनिरोध—शैलेषी अवस्था की प्राप्ति
११ सम्पूर्ण कर्मक्षय, तथा
१२ शाश्वत सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति

गुणस्थान

यहाँ हम आध्यात्मिक विकास के सोपान बता सकते हैं। इनमें आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इन सोपानों को जैन साहित्य में गुणस्थान कहा गया है। इनकी संख्या चौदह है—१ मिथ्यादृष्टि २ सास्वादन, ३ सम्यक्-मिथ्यादृष्टि ४ अविरत सम्यग्दृष्टि, ५ देशविरति (विरताविरत), ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर), ९ अनिवृत्तिबादर, १० सूक्ष्मसंपराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगि केवली और १४ अयोगि केवली।

आध्यात्मिक विकास के सोपान

हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास को क्रमशः योगदृष्टि समुच्चय और योगबिन्दु में दो प्रकार से उपस्थित किया है। प्रथम प्रकार में अविकासकाल को ओघदृष्टि तथा विकासक्रम को सद्दृष्टि की संज्ञा दी है। सद्दृष्टि के आठ भाग किये हैं—मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। दूसरा प्रकार योगपरक है जिसके पाँच भेद किये हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। निर्वाण प्राप्ति के ये विविध सोपान हैं जिन्हें साधक क्रमशः प्राप्त करता रहता है।

भगवान महावीर के ये सिद्धान्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन आधारशिलाओं पर टिके हुए हैं। तीनों के समन्वित रूप का परिपालन धर्म के यथार्थ रूप समता की प्राप्ति में मूलभूत कारण है। यह तथ्य किसी कालखण्ड से जकड़ा हुआ नहीं है। वह तो अबाधित, असीमित और सार्वभौमिक तथ्य है जो जीवन के प्रत्येक अंग को स्वस्थ और समृद्ध कर देता है।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त ने महावीर के दर्शन को सर्वोदयी बना दिया। अमीर और गरीब के बीच की खाई को भरने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह न करे और संग्रहीत वस्तु को प्रसन्नतापूर्वक ऐसे व्यक्तियों को बाँट दे जिनको उसकी नितान्त आवश्यकता हो। यही सच्चा समाजवाद है। इसी समाजवाद पर सर्वोदय निर्भर है। सर्वोदय के इस पुनीत मूल सूत्र को समन्तभद्र ने इन शब्दों में गूंथा है।

> सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पं,
> सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
> सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

प्राचीन काल में जातिभेद का भयकर बवन्डर खड़ा हुआ था। उस समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार प्रमुख वर्गों में विभक्त था। इस विभाजन से ऊँच-नीच के विचारों से प्रभावित होकर समाज की संघटना में द्वेष का विषाक्त बीज घर कर चुका था। उसे दूर करने के लिए महावीर ने यह क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया कि जिनेन्द्र भगवान का यह शासन ऊँच-नीच सभी के लिए समान रूप से है, क्योंकि जिस प्रकार एक स्तम्भ के आश्रय से प्रासाद टिक नहीं सकता, उसी प्रकार एक पुरुष के आश्रय से जैनशासन भी स्थिर नहीं रह सकता।

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥

इस जातिवाद को सुव्यवस्थित करने के लिए महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार लिया। उन्होंने कहा कि उच्च कुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊँचा तभी हो सकता है जबकि उसका चरित्र या कर्म ऊँचा हो। इसलिए महावीर ने चारों जातियों की समानता के आधार पर एक नई व्याख्या की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में देखा (मनुष्यजातिरेकैव)।

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई सुद्दो होई कम्मुणा॥
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते॥

महावीर का यह चिंतन आधुनिक चिंतन के अधिक निकट है। अब जातिभेद और वर्णभेद का समय नहीं। कोई भी देश इन भेदात्मक तत्त्वों पर स्थायी रूप से स्थिर नहीं रह सकता। मानवता को खण्ड-खण्ड कर उसमें से देवत्व कैसे प्रतिबिम्बित हो सकता है?

एक ओर जहाँ महावीर ने आचार-क्षेत्र में क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये वहीं दूसरी ओर विचारक्षेत्र में भी उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, उनका कहना था कि सर्वसाधारण व्यक्ति किसी भी वस्तु या व्यक्ति को सर्वांशतः नहीं जान सकता। विभिन्न संघर्षों का कारण एकांतिक प्रतीति और उसी प्रतीति के लिए कदाग्रही बने रहना है। इसलिए 'ही' का दुराग्रह छोड़कर 'भी' का निर्वचन किया जाना चाहिए। दूसरे की दृष्टि को समझना हमारा परम कर्तव्य है। यही उसके प्रति हमारा आदर है। प्रत्येक दृष्टिकोण में कुछ न कुछ सत्यांश रहता है जिसे उपेक्षित करना सत्य का अपलाप और अपमान करना होगा। विश्व शांति के लिए यह विचार अमोघ अस्त्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। महावीर ने इस सिद्धान्त को कथन के क्षेत्र में स्याद्वाद और चिंतन के क्षेत्र में अनेकांतवाद की संज्ञा दी है। सर्वधर्मसमन्वय के क्षेत्र में यह एक महनीय चरण था। आचार्य हरिभद्रसूरि ने

कहा है कि व्यक्ति को किसी अर्थ विशेष में आग्रह न होकर निष्पक्षतापूर्वक विचार करना चाहिए।

> आग्रही बत निनीषति युक्तिं
> तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
>
> पक्षपातरहितस्य तु युक्ति
> यंत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए समन्वयवाद पर विचार किया। उन्होंने कहा कि मैं किसी तीर्थंकर या विचारक का पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु जिसका वचन तर्कसिद्ध प्रतीत होगा उसी को मैं स्वीकार करूँगा।

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
> युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः प्रतिग्रहः॥

आज की विश्व समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में इस सिद्धान्त को देखा जाय तो अधिकांश ज्वलन्त समस्याएँ अपना सन्तोषप्रद समाधान निश्चित रूप से पा सकती हैं। पारस्परिक दृष्टिकोण को न समझना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। इस कारण को दूर कर मैत्रीभाव स्थापित करने में अनेकान्तवाद पूर्णतः सक्षम है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने समाज और देश को अभ्युन्नत करने के लिए सभी प्रकार से प्रयत्न किया। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार दूरकर सर्वोदयी विचारधारा को प्रचारित करने का अथक प्रयत्न किया। धनोपार्जन के सिद्धान्तों को न्यायवत्ता की ओर मोड़ा। मूक प्राणियों की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी संजीवनी से दूर किया, सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द बयार से शांत किया। जीवन के हर अंग में अहिंसा के महत्त्व को प्रदर्शित कर मानवता के संरक्षण में महावीर स्वामी ने अधिकाधिक योगदान दिया। यह उनके गहन चिंतन और समीक्षण का ही परिणाम था।

☆

अध्याय १०

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन

१. परिनिर्वाण
२. जन्म और पारिवारिक स्थिति
३. महाभिनिष्क्रमण और कैवल्यसाधना
४. महावीर के वर्षावास और विहार-स्थल
५. कैवल्यावस्थाकालीन वर्षावास
६. महात्मा बुद्ध के वर्षावास और विहार स्थल
७ दोनों महापुरुषों का व्यक्तिगत सम्पर्क
८. समान व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले राज-परिवार

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ई॰ पू॰ छठी शताब्दी के महान् क्रान्तिकारी युग-पुरुष थे। उन्होंने समाज में व्याप्त अन्ध-श्रद्धाओं और आचार-शैथिल्य को दूर कर सम्यग्ज्ञान की पृष्ठभूमि में सम्यक्आचार का परिनिर्माण किया था। ज्ञान और आचार का यह समन्वय उनके उपदेशों की मूलभूत विशेषता कही जा सकती है। श्रमण संस्कृति की आधारशिला पर खड़े रहने पर भी दोनों महापुरुषों में दार्शनिक मतभेद भी कम नहीं रहे। इन मतभेदों ने ही बुद्ध को पृथक धर्म संस्थापित करने के लिए प्रेरित किया जबकि महावीर ने अपने परम्परागत धर्म में समागत असम्यक् प्रवृत्तियों को दूरकर उसी का प्रचार-प्रसार किया।

दोनों व्यक्तित्व प्रारम्भ में भले ही अपरिचित रहे हों पर बाद में वे अपरिचित नहीं रह सके। उनकी जीवन-घटनाएँ समान दिखती हुई भी भिन्न रही हैं। प्रस्तुत अध्याय में ऐसी ही घटनाओं का पर्यवेक्षण किया गया है।

परिनिर्वाण

महावीर और बुद्ध के काल निर्णय के सन्दर्भ में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अत: उन सब तथ्यों को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। बस, यहाँ मैं इतना कहना चाहता हूँ कि पालि-त्रिपिटक में आये एतत्सम्बन्धी उद्धरणों को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। महावीर के परिनिर्वाण से सम्बद्ध तीन उद्धरण त्रिपिटक में मिलते हैं :

(i) दीघनिकाय के पासादिकसुत्तन्त में चुन्द सामगाम (शाक्य देश) जाकर आनन्द के माध्यम से बुद्ध को प्रसन्नतापूर्वक यह समाचार देता है कि महावीर का परिनिर्वाण पावा में हो गया और उनके संघ में कलह प्रारम्भ हो गई।

(ii) दीघनिकाय का संगीतिपरियाय सुत्त भी लगभग ऐसा ही उद्धरण प्रस्तुत करता है। यहाँ बुद्ध स्वयं पावा में ठहरे हुए हैं और पावावासियों ने उन्हें नवनिर्मित संस्थागार को उद्घाटित करने के लिए निवेदन किया। यहाँ बुद्ध के साथ आनन्द नहीं, बल्कि सारिपुत्र हैं जिन्होंने भिक्षुसंघ को बुलाकर यह समाचार प्रकार का विवाद न करने के लिए कहा। चुन्द
पावा आये हों और जो संस्थागार

परिनिर्वृत हो जाने पर बुद्ध द्वारा उद्घाटित किया गया हो। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि बुद्ध सारिपुत्र से कहते है—"पिट्ठि मे आगिलायिति, तमहं आयमिस्सामी ति।" इससे स्पष्ट है कि बुद्ध इस समय तक बिलकुल वृद्ध हो गए थे। सारिपुत्र इसी घटना के बाद अपने परिनिर्वाण के लिए पावा से अन्तिम विदा लेकर नालक ग्राम गये, जहाँ सात दिन बाद वे स्वर्गस्थ भी हो गये। इसी के एकाध वर्ष बाद ही बुद्ध का भी परिनिर्वाण हो गया।

(iii) मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्तन्त मे आनंद के माध्यम से यही घटना बुद्ध तक पहुँचाई गई। आनन्द ने यह भी कहा कि भगवान बुद्ध इस घटना को सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे—'एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम'। थेरीगाथा (१६०) के अनुसार आनंद बुद्ध की प्रव्रज्या के लगभग बीस वर्ष बाद प्रव्रजित हुए। अतः यह घटना निश्चित ही अन्तिम समय की होगी। मुनि नगराज जी ने बुद्ध का परिनिर्वाण ५०२ ई० पू० माना जो इस घटना के आधार पर सम्यक् नहीं टहरता।

इन उद्धरणों से ऐसा लगता है कि महावीर के निर्वाण के बहुत थोड़े समय बाद ही बुद्ध का निर्वाण हुआ था। डॉ० जेकोबी ने इन उद्धरणों को मात्र इसलिए असगत माना है कि उनका उल्लेख परिनिब्बाणसुत्त मे नही हुआ।[1] परन्तु इसे असगत या अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि महापरिनिब्बाणसुत्त का उद्देश्य ऐसे प्रसगो का उल्लेख करना नही था। मुनि नगराज जी ने उन्हें अप्रामाणिक अवश्य नहीं माना पर उत्तरकालिक माना है जो ठीक नहीं। उद्धरणों से स्पष्ट आभास होता है कि उक्त घटना के समय बुद्ध और सारिपुत्र बिलकुल वृद्ध हो चुके थे।

जहाँ तक दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त), संयुत्तनिकाय (दहरसुत्त) तथा सुत्तनिपात (सभियसुत्त) के उद्धरणों का प्रश्न है जहाँ बुद्ध को निगण्ठनातपुत्त आदि तीर्थंकरों की अपेक्षा दहर और नवप्रव्रजित कहा गया है। (समणो हि गोतमो दहरो चेव जातियो नवो च पब्बज्जायाति), यह भी ठीक है। इन प्रकरणों में बुद्ध ने सभवतः शिष्टाचारवश अपने को दहर बताया हो और फिर यह भी असभव नहीं कि त्रिपिटक ने अपने धर्मनायक को अल्पवयस्क पर कुशाग्र ज्ञाता बताने की दृष्टि से ऐसा कह दिया हो।

अतः मुझे तो अब ऐसा लगता है कि महावीर और बुद्ध के परिनिर्वाण मे अधिक अन्तर नहीं रहा होगा। विचारश्रेणी आदि ग्रन्थों के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् के ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। यह सवत् विक्रम के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है जो उनके जन्म के अठारह वर्ष बाद हुआ। अतः महावीर का निर्वाण ५७+१८+४७०=५४५-४५ ई०पू० माना जाना चाहिए[2] तथा बुद्ध का परिनिर्वाण

---

१ श्रमण, वर्ष १३, अक ६, पृ० १३

२ यह लेखक का अपना मत है।

दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ५४८—५४३ ई० पू० स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार दोनों महापुरुषों के परिनिर्वाण में एक वर्ष का अन्तर रहा होगा। डॉ० कामता प्रसाद पाठक आदि विद्वान भी इसी विचार को स्वीकार करते हैं।

जन्म और पारिवारिक स्थिति

दोनों महापुरुषों का जन्म समान परिस्थिति और वातावरण में हुआ। बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ जो शाक्य गणतन्त्र था। महावीर वैशाली के कुण्डपुर में जन्मे जो लिच्छवि गणतन्त्र था। दोनों की दूरी में भी कोई बहुत अन्तर नहीं। बुद्ध का जन्म ६२४-६२३ ई० पू० (५४४-५४३+८०) में हुआ और महावीर का जन्म ६१८-६१७ ई० (५४६-४५+७२) में हुआ। अतः बुद्ध महावीर से लगभग छः वर्ष ज्येष्ठ थे। बुद्ध क्षत्रिय और ब्राह्मण कुल में ही उत्पन्न होते हैं और दोनों कुलों में क्षत्रिय कुल को श्रेष्ठतर मानते हैं परन्तु महावीर आदि तीर्थंकर तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्यत्र उत्पन्न ही नहीं होते।

बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन, माता का नाम महामाया और बुद्ध का नाम सिद्धार्थ था। शुद्धोदन और सिद्धार्थ ये दोनों नाम पार्श्वापत्यीय जैन-परम्परा से सम्बद्ध होने चाहिए। शुद्धोदन सूर्यवंशी और गौतम गोत्री थे। कुल शाक्य था। कपिलवस्तु गणराज्य के महाशासन राजा थे। पूर्वज इक्ष्वाकु थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ महाराजा चेटक के सामन्त थे। चेटक लिच्छवि गणराज्य का प्रधान था। उसकी राजधानी वैशाली थी। माता त्रिशला चेटक की ही बहिन या पुत्री थी। महावीर की क्षत्रिय जाति और नाथ या ज्ञातृवंश के थे। पूरा परिवार पार्श्वनाथ-परम्परा का अनुयायी था। महावीर का जन्म-नाम वर्धमान था। कोई उन्हें वैशालिक भी कहते थे। पर आगे चलकर उनके नाम वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर आदि भी प्रचलित हुए। ये सभी नाम विभिन्न घटनाओं पर आधारित हैं। पालि त्रिपिटक तथा जैनागम में उन्हें निगण्ठनातपुत्त कहकर स्मरण किया गया।

जैनधर्म में तीर्थंकरत्व तथा बौद्धधर्म में बुद्धत्व प्राप्ति का वर्णन है। महावीर के तीर्थंकरत्व का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परा तेतीस पूर्व भवों से जोड़ती है तथा श्वेताम्बर परम्परा २६ अथवा २७ पूर्वभवों का वर्णन करती है। दोनों परम्परायें महावीर के प्रमुख पूर्वभवों का ही वर्णन करती हैं अतः कोई विवाद का विषय नहीं। बुद्ध का भी बुद्धत्व से सम्बन्ध ऐसे ही पूर्वभवों से रहा है। इस संबंध में उनके पाँच सौ सत्ताईस अथवा पाँच सौ इक्यावन पूर्वजन्मों का वर्णन मिलता है।

कालदेवल आदि ऋषियों की वाणियों से प्रेरित होकर शुद्धोदन ने गौतम का ध्यान विषयोपभोग की ओर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा का स्वयंवर हुआ जिसमें गौतम ने १६ वर्ष की अवस्था में देवदत्त आदि शाक्य कुमारों को सरलता से पराजित कर उसका पाणिग्रहण किया। प्रतियोगिता के विषय थे—(१) गजराज उत्क्षेपण, (२) लिपिज्ञान, (३) गणित, (४) धनुषचालन,

(५) मल्लयुद्ध, (६) [illegible], (७) काव्य निर्माण, (८) शास्त्रज्ञान । यशोधरा राहुल की माता भी बनी ।

महावीर भी अध्यात्म प्रेमी थे । माता-पिता ने उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया । दिगम्बर परम्परा उनको अन्त तक अविवाहित मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ सम्बन्ध को स्वीकार करती है । कालान्तर में महावीर एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका विवाह सम्बन्ध जमालि के साथ हुआ ।

महावीर की शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में कोई विशेष सामग्री नहीं मिलती । मात्र यही मिलता है कि जिनसेन के अनुसार संजयन्त और विजयन्त नामक मुनियों ने उन्हें देखकर ही अपनी शंकाएँ दूर कर लीं । बुद्ध की भी शिक्षा-दीक्षा के विषय में अधिक जानकारी नहीं । ललितविस्तर में उनके गुरु का नाम विश्वामित्र बताया गया है । विश्वामित्र ने दस हजार बालकों के साथ बुद्ध को पढ़ाना प्रारम्भ किया । यहाँ हर स्वर और वर्ण के साथ बौद्ध सिद्धान्तों का योग किया गया है ।[3]

बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के लिए निदान किया था, पर महावीर ने तीर्थंकर बनने के लिए ऐसा कोई निदान नहीं किया था, क्योंकि निदान करना जैनधर्म में हेय माना गया है । इतना अवश्य है कि बुद्धत्व और तीर्थंकरत्व प्राप्ति के निमित्त लगभग समान दिखाई देते हैं ।

बुद्धत्व प्राप्ति के लिए पारमिताओं की प्राप्ति को अन्यतम कारण माना गया है प्राचीनतम पालि साहित्य में पारमिताओं का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता । दीघनिकाय के दसुत्तरसुत्त व संगीतिसुत्त में बौद्ध मन्तव्यों की सूची दी गई है परन्तु उसमें पारमिताओं का उल्लेख नहीं मिलता । मज्झिमनिकाय में 'पारमियतो' शब्द अवश्य मिलता है, पर पारमिता के अर्थ में नहीं । अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि पारमिताओं का सिद्धांत मूल रूप से थेरवादी परंपरा में नहीं था । सर्वास्तिवादी और महासांघिक परम्पराओं ने बौद्ध धर्म में श्रद्धा जाग्रत करने की दृष्टि से पारमिताओं का आलेखन किया होगा ।[4] इन्हीं का प्रभाव उत्तरकालीन पालि साहित्य पर दृष्टिगोचर होता है । इसी आधार पर जातक कथाओं का निर्माण हुआ है । यहाँ दस पारमिताओं का वर्णन मिलता है—दान, शील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, क्षान्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता व उपेक्खा । इन दस पारमिताओं का आधार बौद्ध संस्कृत साहित्य में प्राप्त छः पारमितायें हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा । थेरवादी परम्परा में नेक्खम्म,

---

३ ललितविस्तर, पृ० ८६; देखिये, लेखक की पुस्तक—बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ० १२-१३

४ Aspects of Mahayana Buddhism and its relation to Hinayana, p. 11.

सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता व उपेक्खा को और जोड़ दिया गया है तथा ध्यान पारमिता को छोड़ दिया गया है। दसभूमिकसूत्र में षट्पारमिताओं में उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान को जोड़कर दस पारमिताएं की गई हैं। उपेक्खा व मेत्ता ब्रह्म-विहारों के अन्तर्गत आते हैं तथा सच्च को शील में परिगणित किया जा सकता है। अधिट्ठान को प्रणिधान में गर्भित कर सकते हैं। नेक्खम्मपारमिता (गृहत्याग) पर थेरवादियों ने विशेष ध्यान दिया जबकि महायानी परम्परा उस पर अधिक ध्यान नहीं दे सकी। महासांघिकों और सर्वास्तिवादियों ने उसे पृथक् माना।

जैन साहित्य की दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के निमित्त सोलह भावनाओं का वर्णन मिलता है जिनका परिपालन करने से साधक तीर्थंकर बन सकता है—१. दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३. शील और व्रतों में अनतिचार ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६ यथा शक्ति त्याग, ७. तप, ८. साधु-समाधि, ९. वैयावृत्ति, १०. अर्हद् भक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३ प्रवचन भक्ति, १४. आवश्यक अपरिहाणित्व, १५ मार्ग प्रभावना, और १६. प्रवचन वात्सल्य।[५] नायाधम्मकहाओ में कुछ परिवर्तन के साथ सिद्धवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वी वत्सलता तथा अपूर्वज्ञानग्रहण इन चार भावनाओं को और जोड़ दिया गया है।[६]

बौद्ध साहित्य में महापुरुष के प्रायः बत्तीस शारीरिक लक्षण बताये गये हैं। अर्थविनिश्चयसूत्र में प्रत्येक लक्षण प्राप्ति के लिए पृथक् कर्म विपाक दिया गया है। परन्तु दीघनिकाय में इन कर्मविपाकों की कुल संख्या बीस ही बताई गई है—१ सदाचार, २. प्रियकारिता, ३. जीवहिंसा त्याग, ४. मधुर भोजनदान, ५ जनसंग्राहकता, ६. अर्थधर्मोपदेशदान, ७. सत्कारपूर्वक शिक्षणहित की जिज्ञासा, ८ अक्रोध, ९ वस्त्र-दान, १०. परस्पर मैत्री करना-कराना, ११ योग्यायोग्य पुरुष का ध्यान, १२ परहिताकांक्षा, १३. परपीड़ात्याग, १४ प्रियदृष्टि, १५. सत्कार्य में अग्रणी, १६ सत्यवादिता, १७. संघर्ष दूर करना, १८. मधुरभाषिता, १९. भावपूर्णवचन, और २० सम्यक् आजीविका। इन कर्म विपाकों, पारमिताओं तथा तीर्थंकर प्रकृतियों की तुलना करने पर बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।

जैन परम्परा में तीर्थंकरों के १००८ लक्षण बताये गये हैं। भगवान महावीर के भी उतने ही लक्षण थे। विस्तार भय से हम उन्हें यहां नहीं दे रहे हैं।[७]

महाभिनिष्क्रमण और कैवल्य-साधना

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में महाभिनिष्क्रमण किया अर्थात् ५८८-

---

५ तत्त्वार्थ सूत्र, ६,२४

६ नायाधम्मकहाओ ८,७०

७ देखिये लेखक का लेख—तीर्थंकरत्व व बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्तों का तुलनात्मक अध्ययन।

५८७ ई. पू. मे उन्होंने गृहत्याग किया और ५७६-७५ ई. पू. मे बारह वर्ष १३ पक्ष बाद केवलज्ञान प्राप्त किया।[८] बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण २९ वर्ष की अवस्था में ५९५-५९४ ई. पू. (६२४-६२३—२९) में हुआ अर्थात् महावीर से लगभग सात वर्ष पूर्व बुद्ध ने गृहत्याग किया। परन्तु महावीर और बुद्ध के परमज्ञान की प्राप्ति तक यह अन्तराल १३ वर्ष का हो गया। दोनों महापुरुषो ने अपनी साधना का प्रारम्भ पार्श्वनाथ परम्परा में दीक्षित होकर किया।

महावीर के वर्षावास और विहारस्थल

ठाणांग सूत्र मे महापद्मचरित के प्रसग मे महावीर के विषय मे लिखा है कि मैंने तीस वर्ष गृहस्थावस्था में, बारह वर्ष १३ पक्ष केवलज्ञान-प्राप्ति मे और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म-प्रचार में बिताये।[९] इसके अनुसार महावीर ने ४२ वर्ष निम्न स्थलों मे बिताये।

कैवल्य-साधनाकालीन वर्षावास*

१. कुण्डग्राम, कर्मारग्राम, मोराक सन्निवेश, ज्ञातमण्डवन, कोल्लाग-सन्निवेश, दूइज्जतग, अस्थिकग्राम (वर्षावास)।
२ मोराक, दक्षिण-उत्तर वाचाल, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।
३ कोल्लाग, ब्राह्मणग्राम, सुवर्णखल, चम्पा (वर्षावास)
४. कालाय, कुमाराक, पत्त, चोराक, पृष्ठचम्पा (वर्षावास)

---

८ वर्तमान में स्थापित मान्यता के अनुसार महावीर एव बुद्ध के जीवन की प्रमुख तिथियां इस प्रकार हैं—

घटनाएँ	महावीर	बुद्ध
जन्म	५९९ ई० पू०	५८२ ई० पू०
गृहत्याग	५६९ ई० पू०	५५४ ई० पू०
कैवल्य	५५७ ई० पू०	५४७ ई० पू०
निर्वाण	५२७ ई० पू०	५०२ ई० पू०

—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (मुनि नगराज जी) पृ० ११७

९ ठाणांगसूत्र, ठाणा ९, उद्देशा ३, सूत्र ६९३ की वृत्ति, पृ० ४६१।१; धवला मे महावीर का केवलिकाल २९ वर्ष ५ माह २० दिन लिखा है।

* देखिये, आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृ० ३९४-४००।

५. कयंगला, आवत्ता, कलंबुका, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नंगला, लाढ़देश, मलय, भद्दिया (वर्षावास)
६. कदली, तंबाय, वैशाली, जम्बूसण्ड, कूपिय, ग्रामाक भद्दिया (वर्षावास)
७. मगध, आलंभिया (वर्षावास)
८. कुण्डाक, बहुसालग, लोहार्गला, गोभूमि, मर्दन, शालवन, पुरिमताल, उन्नाग, राजगृह (वर्षावास)।
९. लाढ़, शुभ्रभूमि, वज्रभूमि (वर्षावास)
१०. सिद्धार्थपुर, कूर्मग्राम, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती, (वर्षावास)
११. सानुलट्ठिय, तोसलि, सिद्धार्थपुर आलंभिया, श्रावस्ती, वाराणसी, मिथिला, मलय, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली, (वर्षावास)
१२. सुंसुमारपुर, नन्दिग्राम, कौशाम्बी, मेंढियग्राम, सुमंगल, चम्पा(वर्षावास)
१३. जंभियग्राम, मेंढिय, छम्माणि

कैवल्यावस्थाकालीन वर्षावास

१३. ऋजुवालुका, पावापुरी, राजगृह (वर्षावास)
१४. राजगृह, ब्राह्मणकुण्ड, वैशाली (वर्षावास)
१५. वैशाली, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
१६. वाणिज्यग्राम, राजगृह (वर्षावास)
१७. राजगृह, चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
१८. वाणिज्यग्राम, वाराणसी, आलंभिया, राजगृह (वर्षावास)
१९. राजगृह (वर्षावास)
२०. राजगृह, आलंभिया, कौशाम्बी, वैशाली (वर्षावास)
२१. वैशाली, मिथिला, काकन्दी, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)
२२. वैशाली, राजगृह (वर्षावास)
२३. राजगृह, कृतंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
२४. वाणिज्यग्राम, ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह, (वर्षावास)
२५. राजगृह, चम्पा, राजगृह (वर्षावास)
२६. राजगृह, काकन्दी, मिथिला, चम्पा (वर्षावास)
२७. चम्पा, श्रावस्ती, मेंढियग्राम, चम्पा, मिथिला (वर्षावास)
२८. मिथिला, हस्तिनापुर, मोका, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
२९. वाणिज्यग्राम, राजगृह (वर्षावास)
३०. राजगृह, पृष्ठचम्पा, चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
३१. वाणिज्यग्राम, काम्पिल्यपुर, वैशाली (वर्षावास)
३२. वैशाली, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)

३३. वैशाली, राजगृह, चम्पा, पृष्ठचम्पा, राजगृह (वर्षावास)
३४ राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)
३५ नालन्दा, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)
३६ वैशाली, साकेत, वैशाली (वर्षावास)
३७ वैशाली, राजगृह (वर्षावास)
३८. राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)
३९. नालन्दा, मिथिला (वर्षावास)
४०. मिथिला (वर्षावास)
४१ मिथिला, राजगृह (वर्षावास)
४२. राजगृह, अपापापुरी-पावा (निर्वाण) (वर्षावास)

महात्मा बुद्ध के वर्षावास और विहारस्थल

महात्मा बुद्ध ने लगभग छः वर्ष के बाद बोधि प्राप्त की। इस बीच वे कपिलवस्तु, राजगृह आदि घूमते हुए उरुवेला पहुँचे जहाँ उन्हें बोधि प्राप्त हुई। इसके बाद उन्होंने वर्षावास सुरीत्या प्रारम्भ किये।

१. वाराणसी, ऋषिपत्तन (वर्षावास)
२. गया, राजगृह (वर्षावास)
३. राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह (वर्षावास)
४. कपिलवस्तु, वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह (वर्षावास)
५. वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली (वर्षावास)
६. राजगृह, मकुलपर्वत (वर्षावास)
७. राजगृह, श्रावस्ती, त्रयस्त्रिंश (वर्षावास)
८. श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, सुंसुमारगिरि-चुनार (वर्षावास)
९. कौशाम्बी (वर्षावास)
१०. पारिलेयक (वर्षावास)
११. श्रावस्ती, नाला-नालन्दा (वर्षावास)
१२. कुरु-कल्माषदम्म, मथुरा, वेरंजा (वर्षावास)
१३. प्रयाग, काशी, वैशाली, चालियपर्वत (वर्षावास)
१४. वैशाली, श्रावस्ती, साकेत, आपण, श्रावस्ती (वर्षावास)
१५. कुसीनारा, कोसल, कपिलवस्तु, राजगृह, चम्पा, कपिलवस्तु (वर्षावास)
१६. आलवी-कानपुर (वर्षावास)
१७. कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास)
१८-१९. चालिय पर्वत
२१. वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती (वर्षावास)।
२२-४५. वर्षावास श्रावस्ती में रहे। इस बीच बुद्ध कोसल, कुरु, राजगृह,

नालदा, सामगाम, पावा, वैशाली, कुसीनारा आदि स्थानों पर विहार करते रहे।

४६. राजगृह, वैशाली, पावा, वैशाली (वर्षावास) कुसीनारा (निर्वाण)।

दोनों महापुरुषों का व्यक्तिगत सम्पर्क

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के वर्षावासों और विहार-स्थलों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि दोनों महापुरुषों की विहारभूमि अनेक बार एक ही ग्राम और नगर रही होगी। श्रावस्ती, राजगृह, नालदा, कौशाम्बी आदि कुछ ऐसे ही नगर हैं जहाँ दोनों ने अपने धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। यदि महावीर का परिनिर्वाण ५२७ ई. पू. और बुद्ध का परिनिर्वाण ४८३ ई. पू. मानकर चला जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महावीर के निर्वाण हो जाने पर महात्मा बुद्ध ने धर्म चक्र प्रवर्तन किया। परन्तु यह विचार सही प्रतीत नहीं होता। उनका निर्वाण ५०२ ई. पू. में भी नहीं माना जा सकता। सूत्रकृतांग में महावीर के १६वें वर्षावास के समय राजगृह में आर्द्रकुमार का बौद्ध भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ होने की घटना का उल्लेख आया है।[१०] बुद्ध का २२ वाँ वर्षावास भी राजगृह में हुआ। इसी प्रकार और भी अनेक प्रसंग हैं। यहाँ इस समय बुद्ध का वर्षावास नहीं होगा, बल्कि बुद्ध के कुछ शिष्यों का होगा क्योंकि बुद्ध का वर्षावास इस समय १२वाँ वर्षावास रहा होगा जो श्रावस्ती में हुआ था।

महापंडित राहुल जी ने बुद्धचर्या को कालक्रम की दृष्टि से सजोने का प्रयत्न किया है। तदनुसार धर्मचक्रप्रवर्तन के समय ही बुद्ध की भेंट आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षु से हुई। हम जानते हैं, आजीवक सम्प्रदाय का संस्थापक मक्खलि गोशालक महावीर के साथ साधनाकाल के १०वें वर्षावास तक रहा। हमारी मान्यता के अनुसार महावीर ने लगभग सात वर्ष बाद गृहत्याग किया जबकि इस समय तक बुद्ध बोधि प्राप्त कर चुके थे। जैन आगमों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि गोशालक का महावीर से परिचय उनकी साधना के द्वितीय वर्ष में हुआ इसलिए यह भेंट गोशालक से ही रही होगी परन्तु आजीवक सम्प्रदाय का उल्लेख सही नहीं लगता क्योंकि इस समय तक उसकी स्थापना ही नहीं हुई थी।

बुद्ध जब मकुल पर्वत पर वर्षावास कर रहे थे, उस समय राजगृह के एक श्रेष्ठी ने चन्दन पात्र को सीके पर बाध रखा और उसे दिव्य शक्ति द्वारा उठाने को तीर्थंकरों से कहा। परन्तु अजित केसकम्बली, पकुधकच्चायन, सञ्जयवेलट्ठिपुत्त, निगण्ठ-नातपुत्त व मक्खलि गोशालक ये सभी तीर्थंकर असफल हुए। परन्तु बुद्ध के शिष्य पिंडोल भारद्वाज ने उस बर्तन को सरलतापूर्वक उठा लिया। यह सुनकर बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रतिहार्य न करने के लिए शिक्षापद दिया। बाद में बिम्बसार ने बुद्ध से प्रतिहार्य

१० सूत्रकृतांग २,६ पत्र सं० १३५-१५८

करने के लिए कहा क्योंकि उक्त सभी तीर्थिक उन्हें चेलेंज दे रहे थे। यह जानकर बुद्ध ने चार माह बाद प्रतिहार्य करने को कहा। तीर्थिक बुद्ध के पीछे-पीछे चले। उनके साथ वे राजगृह और श्रावस्ती भी पहुँचे। बुद्ध ने अपना प्रतिहार्य प्रसेनजित के समक्ष किया। फलस्वरूप आम की गुठली ने अचानक एक बड़े वृक्ष का रूप ले लिया। तीर्थिक कोई प्रतिहार्य नहीं कर सके। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि निगण्ठ लजाते हुए भाग गये। शक्र ने बुद्ध की सहायता की। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ निगण्ठनातपुत्त के स्थान पर निगण्ठ (जैन साधु) का उल्लेख है।[११] यहाँ निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व पर भी छींटा-कशी की गई है।[१२] इस घटना से लगता है, बुद्ध और महावीर ने राजगृह और श्रावस्ती में एक साथ ही वर्षावास बिताया। फिर भी वे एक-दूसरे के समक्ष स्पष्ट रूप में नहीं आये।

नालन्दा में भी बुद्ध और महावीर दोनों ने एक साथ वर्षावास किया।[१३] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि महावीर ने श्रमण गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने के लिए अपने प्रधान शिष्य असिबन्धकपुत्त ग्रामणी को भेजा था और उससे यह प्रश्न करने को कहा था कि तथागत जब कुलों की उन्नति और रक्षा की बात करते हैं तो ईतिपूर्ण व सूखे प्रदेश में क्यों विहार करते हैं ? बुद्ध के इस प्रश्न के उत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी उनका अनुयायी हो गया। इसी समय बुद्ध ने ग्रामणी से प्रश्न किया कि निगण्ठनातपुत्त अपने श्रावकों को कौन-सा धर्मोपदेश करते हैं ? ग्रामणी ने उत्तर में कहा कि हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील आदि कुकृत्य करने वाला दुर्गति पाता है। इसलिए व्यक्ति को इन पापों से बचना चाहिए। इसी उत्तर-प्रत्युत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी बुद्ध का शिष्य हो गया। इस घटना से भी यही लगता है कि बुद्ध और महावीर दोनों ने कभी एक-दूसरे से मिलने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि वे अपने शिष्यों को ही शास्त्रार्थ के लिए भेजते रहे। बुद्ध का एक ही वर्षावास नालन्दा में हुआ। राहुल जी ने उसे ११वां बताया परन्तु वह १५वां होना चाहिए क्योंकि महावीर ने १५वां वर्षावास नालन्दा में किया।

इसी प्रकार की एक घटना वैशाली में हुई। यहाँ भी दोनों महापुरुष उस समय वैशाली में ठहरे हुए थे। सीह ने निगण्ठनातपुत्त से बुद्ध के दर्शन करने को जाने की अनुमति मांगी जिसे निगण्ठनातपुत्त ने अस्वीकार कर दिया यह कहकर कि क्रियावादी होते हुए अक्रियावादी के पास क्यों जाते हो ? उत्तर में बुद्ध ने अपने आपको क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों बताया।[१४] सूत्रकृतांग[१५] में भी बौद्धधर्म को

११ चुल्लवग्ग ५; धम्मपद अट्ठकथा ४,२
१२ संयुत्तनिकाय ३ १.१
१३ वही ४० १ ९
१४ अंगुत्तरनिकाय, ८.१.१२
१५ सूत्रकृतांग, १२ ९—ते चार्वाक बौद्धाद्योऽक्रियावादिन एवमाचक्षते, पृ० २१९

क्रियावाद में सम्मिलित किया गया है। बाद में अगुत्तरनिकाय में भी लिखा है कि सीह बुद्ध का शिष्य हो गया है फिर भी बुद्ध ने सीह को कहा कि चिरकाल से तुम्हारा कुल निगण्ठों के लिए रहा है इसलिए उन्हें दान देना बन्द नहीं करना चाहिए। वहीं यह भी लिखा है कि सीह ने बुद्ध को मांस खिलाया जिसकी घोर निन्दा निगण्ठों ने की।

अन्तगडदसाओ (पृ. ६) में श्रेणिक के उन पुत्रों और रानियों के नाम दिये हैं जिन्होंने भगवान महावीर से प्रव्रज्या ली थी। पुत्रों में जालि, मयाली, उवयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहास, अभय, दीर्घसेन, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पूर्णसेन[१६] ये नाम मिलते हैं। पालि त्रिपिटक में निगण्ठनातपुत्त के शिष्यों में सीह, दीघतस्स, उपालि और अभय का नाम आता है। सम्भव है, ये श्रेणिक के ही पुत्र हों।

मेण्डक नामक गृहपति भी जैन था, जो बाद में बुद्ध का अनुयायी हो गया, ऐसा पिटक में कहा गया है।[१७] यह अंग देश के भद्दिया नगर का रहने वाला श्रेष्ठि था। बिंबिसार राजा के पाँच अमित भोग सम्पन्न श्रेष्ठि थे—जोतिय, जटिल, मेडक, पुण्णक और काकवलीय।[१८] इसी के पुत्र धनंजय श्रेष्ठी की अग्रमहिषी सुमनादेवी के गर्भ से ही विशाखा का जन्म हुआ था। कालांतर में इसका सम्बन्ध श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी के पुत्र पुण्ड्रवर्धन से हुआ। मृगार निगण्ठों का पूजक था और विशाखा बुद्ध में अधिक भक्ति रखती थी। मृगार ने निगण्ठों को बुलाया परंतु विशाखा ने उनकी बड़ी आलोचना की—नग्नत्व की दृष्टि से। फलस्वरूप मृगार भी बौद्ध हो गया।" यहाँ निगण्ठनातपुत्त का नाम नहीं, निगण्ठों का नाम है। फिर भी यह सत्य है कि अंगदेश और श्रावस्ती में जैन-बौद्ध समान रूप से रहते थे।

शाक्य देश में भी जैन और बौद्ध दोनों धर्म लोकप्रिय थे। मज्झिम निकाय में एक उदाहरण है कि शाक्य देशीय देवदह ग्राम में महात्मा बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं कि निगंठों का सिद्धांत है कि व्यक्ति जो सुख, दुःख या अदुःख, असुख अनुभव करता है वह सब उसके पूर्वकृत कर्मों के हेतु से। इन पूर्वकृत कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से और *नवीन कर्मों का आस्रव-द्वार बन्द हो जाने से भविष्य में व्यक्ति परिणामरहित* (अनास्रवी) हो जाता है। परिणामरहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से वेदनाक्षय, वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं।[२०] इस सिद्धांत की यहाँ

---

१६ *तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ४३*

१७ महावग्ग ६ २

१८ धम्मपद अट्ठकथा, ४.८

१९ अंगुत्तरनिकाय, अ० कथा, १.७ २

२० *मज्झिमनिकाय ३.१.१*

अन्तर्गत आलोचना की गई है। राजगृह में भी बुद्ध ने निगण्ठों के इस सिद्धान्त को उन्हीं से सुना था और उसका अनुमोदन भी किया था। यहीं निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की भी कटु आलोचना महात्मा बुद्ध ने की है।[21] आनन्द ने भी सन्दक परिव्राजक से कौशाम्बी में निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की तीव्र आलोचना की और उसे अनाश्वासिक (मन को सन्तुष्ट न करने वाला) बताया।[22]

महात्मा बुद्ध का १७वाँ वर्षावास राजगृह में हुआ था।[23] उस समय विभिन्न मतावलम्बियों ने यह जानकर हर्ष व्यक्त किया कि इस बार अब, श्रमणों को आध्यात्मिक लाभ मिलने का स्वर्ण अवसर है जो कि राजगृह में पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशालक अजित केशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठनातपुत्त वर्षावास के लिए आए हुए हैं। भगवान महावीर का चौथा (१७– १३ – ४) वर्षावास राजगृह में हुआ। यह जैनागमों से भी ज्ञात होता है।

चम्पा में भी भगवान बुद्ध ने सभी तीर्थंकरों की तपस्या की आलोचना की वज्जिय महित गृहपति से। आलोचना तभी की जाती है जब उस सिद्धान्त का प्रचार अधिक हो जाता है। हम जानते हैं कि चम्पा महावीर की मुख्य विहार-भूमि रही है।

नालन्दा में महात्मा बुद्ध का जब १५ वाँ वर्षावास हो रहा था, उस समय निगण्ठनातपुत्त भी वहाँ अपनी बड़ी परिषद् के साथ ठहरे हुए थे। तब दीर्घतपस्वी निर्ग्रन्थ बुद्ध के पास पहुँचा। बुद्ध ने पूछा—निगण्ठनातपुत्त पापकर्म के लिए कितने कर्मों का विधान करते हैं। तपस्वी ने उत्तर दिया—कर्म कर्म नहीं, दण्ड दण्ड विधान करना निगण्ठनातपुत्त का नियम है। ये दण्ड तीन प्रकार के हैं, कायदण्ड, वचनदण्ड और मनोदण्ड। इनमें कायदण्ड महादोषयुक्त है। उपालि गृहपति भी महावीर का भक्त था। गौतम के साथ वाद-विवाद करने के लिए महावीर ने उपालि को भेजा। अन्त में कहा गया कि उपालि और दीर्घतपस्वी दोनों बुद्ध के अनुयायी हो गये। यह जानकर महावीर उपालि के पास गये और उससे पूछा—तुम किसके शिष्य हो ? उत्तर में उपालि ने बुद्ध की ओर हाथ जोड़कर संकेत किया। इसके आगे तो यहाँ तक बताया गया है कि बुद्ध का सत्कार असह्य हो जाने पर महावीर ने मुँह से उष्ण रक्त उगल दिया।[24]

इसके बाद दोनों महापुरुषों का विहार राजगृह की ओर हुआ। राजगृह में निगण्ठनातपुत्त ने अभय राजकुमार को गौतम के पास विवाद करने भेजा और कहा कि गौतम से पूछो—क्या भन्ते ! तथागत ऐसे वचन बोल सकते हैं जो दूसरों को अप्रिय अमनाप हों ? यदि 'हाँ' कहें तो प्रतिप्रश्न करना कि पृथक्जन (साधारण

२१ वही, १.२.४
२२ चुल्लवग्ग, ६ चूलसकुलदायीसुत्त (राजगृह) में भी सकुल उदायी परिव्राजक ने निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की आलोचना की।
२३ मज्झिम निकाय, २.२.६
२४ मज्झिम निकाय, २.२.६

संसारी जीव) और तथागत में क्या भेद हुआ ? और यदि उत्तर निषेधात्मक रहे तो कहना, आपने देवदत्त के लिए भविष्य वाणी क्यों की है कि देवदत्त आपायिक है, देवदत्त नैरयिक है, देवदत्त कल्पस्थ है, देवदत्त अचिकित्स्य है। आपके इस वचन से देवदत्त को असन्तोष हुआ। गौतम ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि यह एकांतिक (बिना अपवाद के) दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। अन्त में अभय बुद्ध का शिष्य बन गया।[२५]

राजगृह में ही घटित एक और घटना है। अजातशत्रु ने तत्कालीन सभी तीर्थंकरों से सामञ्ञफल (श्रामण्यफल) पूछा। निगण्ठनातपुत्त ने उत्तर में चातुर्याम संवर बताया।[२६] यहाँ ज्ञातव्य है कि चातुर्याम संवर निगण्ठनातपुत्त का नहीं था, पार्श्वनाथ का था।

राजगृह श्रावस्ती आदि नगरों में घटित घटनाओं से लगता है, महावीर और बुद्ध दोनों के शिष्य परस्पर मिलते-जुलते थे और वादविवाद भी करते थे। सम्भव है, दोनों महापुरुषों का यहाँ व्यक्तिगत सम्पर्क भी हुआ हो, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं। सूत्रकृतांग के अनुसार आर्द्रक कुमार (महावीर का परम शिष्य) ने शाक्यपुत्रों से वादविवाद किया और उन्हें पराजित किया। अभय राजकुमार, ग्रामणी आदि के भी इस सन्दर्भ में उल्लेख पीछे हो चुके हैं।

समान व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले राज-परिवार

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध से समान रूप से व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले अनेक राजा थे। उस समय की प्रजा भी धर्म सहिष्णु हुआ करती थी। राजाओं में श्रेणिक, कूणिक (अजातशत्रु), चेटक, चण्ड-प्रद्योत, प्रसेनजित, अभयकुमार आदि ऐसे थे जिन्होंने महावीर और बुद्ध दोनों से समान रूप से सम्पर्क बनाये रखा। यही कारण है कि दोनों जैन और बौद्ध साहित्य उन्हें अपना-अपना बतलाते हैं। महावीर और बुद्ध के व्यक्तिगत सम्पर्क बनने और बिगड़ने में इन राजाओं की भी पर्याप्त भूमिका रही है। विस्तार के भय से इस प्रसंग को यहाँ उपस्थित करना उचित नहीं होगा।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों महापुरुषों के बीच प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कुछ समान घटनायें हुई हैं और दोनों महापुरुषों का किसी सीमा तक व्यक्तिगत सम्पर्क भी बना रहा है। यद्यपि जैन आगमों में एतद्विषयक सामग्री लगभग न के बराबर है, परन्तु पालि त्रिपिटक में जैसा भी निगण्ठनातपुत्त के सन्दर्भ में मिलता है उसे हम पूर्णतः अस्वीकार नहीं कर सकते, भले ही वह पक्षपातपूर्ण रहा हो। इन घटनाओं का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है जब हम बुद्ध को महावीर से ज्येष्ठ मानें और महावीर का परिनिर्वाण ५४६-४५ ई० पू० तथा बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४-४३ ई० पू० स्वीकार कर लें। □

---

२५ अभय राजकुमार सुत्त, मज्झिम निकाय, ५. १ ८

२६ दीघनिकाय, १. १. २

महावीर : बापू के मूल प्रेरणा-स्रोत

महावीर : बापू के मूल प्रेरणा-स्रोत

भगवान महावीर और बापू अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने युगानुरूप जनजीवन में अहिंसक, सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक क्रान्ति का बीज उत्पन्न किया। इस प्रकार जनजीवन का अविच्छिन्न सम्बन्ध बना था। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ था। बापू का आदर्श उनके अहिंसा और विचारों से प्रभावित था। आज भी उनके अनुयायी जैन प्रदेश गुजरात में फैले हुए हैं और देश की संस्कृति बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। विशेष गुजरात की जनता बहुलता प्राचीन से ही जैन विचार और संस्कृति से प्रभावित रही है। बापू को भी जन्मभूमि होने का उसे सौभाग्य मिला है। अतः जैन सिद्धान्तों से बापू का प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि एवं सहिष्णुता

यद्यपि बापू का अपना परिवार वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी था परन्तु उन पर जैन सम्प्रदाय के आचार विचार का भी प्रभाव कम नहीं था। महावीर की सर्व-सहिष्णुता का पाठ बापू को अपने पारिवारिक वातावरण से मिला। उनके माता-पिता वैष्णव मन्दिर जाते, शिवालय जाते और राम मन्दिर भी जाते। इनके अतिरिक्त जैनधर्म के आचार्यों और विद्वानों को भी इस परिवार में अधिक आदर-सम्मान मिलता रहा। वे जब भी आते, उनकी धार्मिक चर्चाएँ होती रहतीं। जैन मुनियों के आने पर उन्हें भिक्षा देकर विधिवत रूप से सम्मानित किया जाता था। विशेष, बेचरदासजी तो बापू के परिवार के अपना सलाहकार ही थे। उनकी सलाह-मशविरे के बिना प्रायः कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में नहीं लिया जाता था।[1]

रायचन्द भाई : एक आध्यात्मिक गुरु

बापू को बाल्यावस्था से ही जैन संस्कृति का परिवेश मिला है। इसलिए उनके प्रत्येक सिद्धान्त में जैन आचार विचार का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। उन पर जैन संस्कृति के प्रभाव का उ[illegible] भाई को विशेष रूप से दिया जा सकता है। बापू ने स्वय[illegible] है कि "मेरे जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव तीन महापुरुषों न छोड़ा [illegible]न और रायचन्द

[1] [illegible] पृ० ६

भाई। टाल्सटाय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' से जिसका गुजराती अनुवाद मैंने 'सर्वोदय' रखा और रायचन्द भाई ने अपने गाढ़ परिचय से। इनमें रायचन्द भाई को मैं प्रथम स्थान देता हूँ।"

यह बात किसी से छिपी नहीं कि शतावधानी कवि रायचन्द स्वयं जैन थे और जैनधर्म के एक प्रबुद्ध विचारक भी थे। आत्मकथा में बापू ने उनके विषय में लिखा है—"उनका (रायचन्द का) गम्भीर शास्त्रज्ञान, शुद्ध चारित्र्य और आत्मदर्शन की उत्कट लगन का प्रभाव मुझ पर पड़ा। उस समय यद्यपि मुझे धर्मचर्चा में अधिक रस नहीं मिलता था, पर रायचन्द भाई की धर्मचर्चा को मनोयोग से सुनता था, समझता था और उसमें रुचिपूर्वक भाग लेता था। उनके बाद अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे मिला पर जो छाप मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई नहीं डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे और अन्तर् में उतर जाते। उनकी बुद्धि और सचाई के लिए मेरे मन में आदर था।[२]

रायचन्द भाई बापू के समवयस्क रहे। वे बापू से लगभग दो वर्ष बड़े थे। उनकी माता जैन और पिता वैष्णव थे। प्रारम्भ में उन्हें वैष्णवी वातावरण मिला परन्तु शीघ्र ही वे जैनधर्म की ओर झुक गये और बाल्यावस्था में ही पूर्ण जैन हो गये। बापू से जैन हो जाने के बाद ही उनका सम्पर्क हुआ होगा। दोनों का यह सम्पर्क सन् १८९१ में हुआ।

रायचन्द भाई पर गांधी जी को बहुत विश्वास था। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है—"मैं जानता था कि वे (रायचन्द भाई) मुझे जानबूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जावेंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनका आश्रय लेता।"

अफ्रीका में ईसाई सज्जनों ने उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। उसका फल यह हुआ कि गांधीजी को वैदिक धर्म में विचिकित्सा पैदा हो गई। उसे दूर करने के लिए उन्होंने यहाँ रायचन्द भाई से पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर से बापू को सन्तोष हुआ और यह विश्वास आ गया कि वैदिक धर्म में उन्हें जो भी चाहिए, मिल सकता है। इससे पता चलता है कि बापू के मन में रायचन्द भाई के प्रति कितना सम्मान रहा होगा।

कवि रायचन्द जी के सम्पर्क से बापू को जैन सिद्धान्तों के विषय में भी पर्याप्त जानकारी हो गई थी। फलतः उनका आध्यात्मिक मानस जैन सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। महावीर द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक अहिंसा की पृष्ठभूमि में उनके प्रायः सभी आचार-विचार जागरित हुए। रायचन्द भाई के उद्बोधन के

---

२ वही, पृ० १९६

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

परिशिष्ट

ग्रन्थ गत शब्द-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

[illegible] १९६९

[illegible]

[illegible] १९०२

[illegible] १९६१ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] १९६९

[illegible]

[illegible] १९६१

[illegible]

[illegible] १९६१

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] १९६८

[illegible]

[illegible] १९६६

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] १९६९

कहावली—भद्रेश्वर, स० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, कैम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—स० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—प० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थवार्तिक—अकलंकदेव, स० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५३
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ स० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

धम्मपद अट्ठकथा—सं० एच० सी० नार्मन
धम्मसंगणि—सं० पी० व्ही० बापट, पूना १९४०
न्यायावतारवार्तिकवृत्ति—सं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—सं० पोपटलाल शास्त्री, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१५
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन्—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जैकोबी, कलकत्ता, १९३२
[illegible]—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
भगवद्गीता—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कोसाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरियं—नेमिचन्द्र, आत्मानन्द सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु—सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह—सं० आर० डी० वाडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, सं० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—सं० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५-१९१३
[illegible]—सं० [illegible], बिहार राज्य, १९५६
दर्शनसार—देवसेनाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सं० दरबारीलाल कोठिया, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६
[illegible]—सं० डा० मुखर्जी, [illegible], कलकत्ता, १९६३
[illegible]—[illegible]
[illegible]—सं० [illegible]
[illegible]—सं० [illegible], बिहार सरकार, १९५६

धम्मपद अट्ठकथा — सं० एच० सी० नारमन
धम्मसंगणि — सं० पी० व्ही० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति — सं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नंदीसूत्र — व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ — सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय — कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१९
प्रमाण परीक्षा — सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक — सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार — कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र — व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन् — आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पाशामगीता — गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय — परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित — अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कौशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास — डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर — दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन — देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन — डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र — अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि — डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान — डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरिय — नेमिचन्द्र, आत्माराम सभा, भावनगर १९२९
मज्झिमनिकाय — सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु — सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपण्ह — सं० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार — मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, स० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, कैम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—सं० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैन बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र : व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्व प्रमाण—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, स० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,

धम्मपद अट्ठकथा—सं० एच०सी० नारमन
धम्मसंगणि—सं० पी० वी० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—सं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
नियमसार—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१६
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्व—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पातममीमांसा—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कोसाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरियं—नेमिचन्द्र, आत्माराम सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु—सं० सेनार्ट, पैरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह—सं० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, सं० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—सं० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यनो इतिहास—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५ १९१३
[illegible]—सं० [illegible], १९१६
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्राचार्य, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९३०
[illegible]—[illegible], १९६६
[illegible]—सं० [illegible] १९६१
[illegible]—[illegible]
[illegible]—सं० [illegible]
[illegible]—सं० [illegible] १९१६

धम्मपद अट्ठकथा—सं० एच०सी० नारमन
धम्मसंगणि—सं० पी० व्ही० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—सं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१६
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन्—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पातञ्जलयोगसूत्र—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कौशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन मे घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरिय—नेमिचन्द्र, आत्माराम सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु—सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपण्ह—सं० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, स० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १६७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—स० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १६२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १६७१, १६७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १६०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५३, १६५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७२
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १६५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद् सागर १६७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १६०५ [illegible]
दीघनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार शासन, १६५८
दर्शनसार—देवसेनाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १६२०
द्रव्यसंग्रह—[illegible] वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, १६६६
[illegible] १६६१
[illegible]
[illegible]
[illegible]

धम्मपद अट्ठकथा — सं० एच०सी० नारमन
धम्मपद — सं० पी० वी० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति — सं० दलसुख मालवणिया, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नन्दीसूत्र — व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ — सं० दोमाचन्द पारिख, अहमदाबाद १९६४
पंचास्तिकाय — कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१९
प्रमाण परीक्षा — सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक — सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार — कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र — व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन् — आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पात्रमीमांसा — वीरसपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय — परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित — अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कौशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास — डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर — दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन — देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन — डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र — अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि — डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान — डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरित्र — नेमिचन्द्र, आत्मानन्द सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय — सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु — सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह — सं० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार — मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, सं० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—सं० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोशी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थवार्तिक—अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५, १९१३
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

धम्मपद अट्ठकथा—सं० एच०सी० नारमन
धम्मसंगणि—सं० पी० वी० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—सं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१६
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन्—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पापसमीक्षा—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, सं० धर्मानन्द कोशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल १९६२
महावीर चरिय—नेमिचन्द्र, आत्माराम सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु—सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह—सं० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, स० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—स० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—प० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमा विकार—बेचरदास दोषी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य मे भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणागसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, स० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ स० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०६-१९१३
थेरगाथा—स० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य, १९५९
दर्शनसार—देवसेनाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र स० दरबारीलाल कोठिया, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६
दसवेआलियं—सं० आ० तुलसी, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६३
दसवैकालिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन
दिव्यावदान—स० पी० एल० वैद्य, मिथिला संस्थान, दरभंगा
दीघनिकाय—स० जगदीश काश्यप, बिहार सरकार, १९५८